ॐ

साधन-विचार

[साधकों के लिए उपयोगी]

लेखक

शङ्करानन्द सरस्वती

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

ॐ
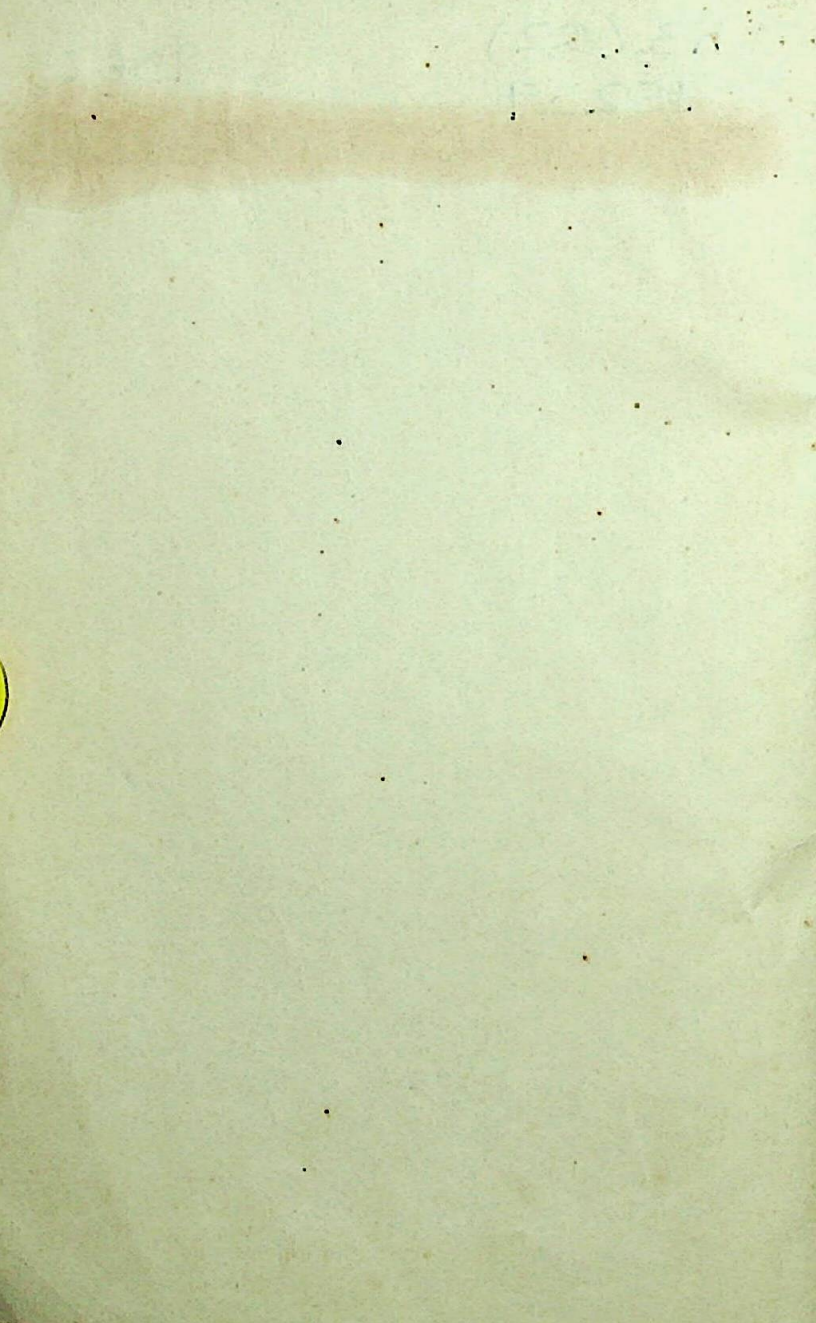
साधन-विचार

(साधकों के लिए उपयोगी)

लेखक

शङ्करानन्द सरस्वती

परमार्थ-निकेतन, पो० स्वर्गाश्रम (ऋषीकेश); पौढ़ी गढ़वाल

ॐ

समर्पण
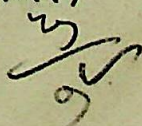
परम पावनी गङ्गा और यमुना के संगम में स्थित परमपवित्र क्षेत्र में उत्पन्न, विशुद्धब्राह्मणकुलावतंस, सकल वैदिक संस्कार सम्पन्न, धन-धान्य-मकान संपन्न, पुत्र-पौत्र-पद-प्रतिष्ठाप्रतिष्ठित, विद्याभूमि काशी-निवासी विद्वानों द्वारा भी संमानित, सकलशास्त्रपारंगत, विद्यादानपरायण महा-महोपाध्याय हरिहरकृपालु को कौन विद्वान् नहीं जानता? एतादृश अपने पिता के सम्पूर्णगुणों से सम्पन्न विद्वत्शिरोमणि परमादरणीय ब्रह्मदत्तजी को देखकर बलात् मुख से यह श्रुति निकल पड़ती है कि **'पिता वै पुत्र-रूपेण जायते'** ।

श्रीहरिहरकृपालु के उत्तराधिकारी परम कृपालु ने स्वयं कृपा करके अपने पुत्र की भांति वात्सल्यपूर्ण हृदय से २५ वर्ष पूर्व जो विद्या प्रदान की थी, जिसके आधार पर ही मैं कुछ शास्त्रावलोकन तथा तदनुसार साधन का संयोजन करने में समर्थ हो पाया। अतएव उन्हीं विद्या-प्रदाता गुरु के करारविन्दों में 'साधन-विचार' ग्रन्थ सादर समर्पित करता हूँ।

यदि साधनसंलग्न सज्जनों ने तन-मन-धन से सहयोग प्रदान न किया होता तो पता नहीं कब तक ग्रन्थ समर्पित करने का अवसर न आता। अतः उनके सहयोग के लिए हम हृदय से आभारी हैं।

शङ्करानन्द सरस्वती

(मार्गशीर्ष सोमवती अमावस्या सं० २०३६)

ॐ
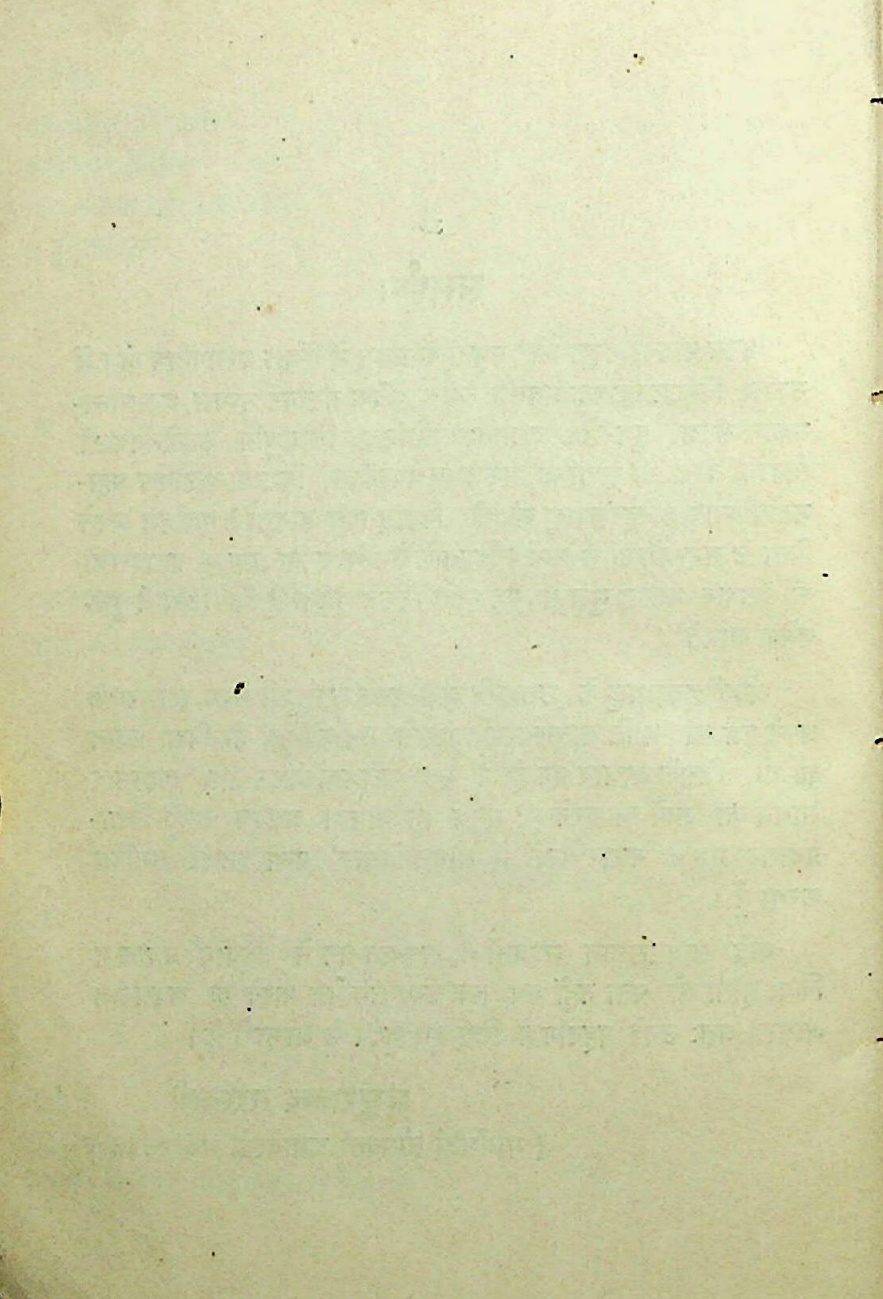
प्राक्कथन

साधक यदि परस्पर मिलकर विचार-विनिमय करते हैं तथा अपनी सफलताओं, असफलताओं और साधन में होनेवाली कठिनताओं एवं विघ्नों का निष्कपट भाव से कथन करते हैं तो उनको बहुत लाभ होता है। इस दृष्टि से प्रेरित होकर ही मैंने जो २५-३० वर्ष साधना-क्षेत्र में व्यतीत किये हैं उसमें जो समस्यायें आई हैं, उनका समाधान सन्तों तथा सद्ग्रन्थों से एवं स्वविचार और स्व-अनुभूति से जैसा कुछ हुआ है उसी को इस 'साधन-विचार' नाम के ग्रन्थ में ग्रथित किया है।

जिन साधकों ने १०-२०-३० वर्ष साधन-क्षेत्र में बिताये हैं तथा गीता, रामायण, भागवत, उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्र का सामान्य ज्ञान रखते हैं, उनके लिए यह ग्रन्थ अति उपयोगी होगा ऐसी आशा है। गीता तथा रामायण का अध्ययन अधिक प्रचलित होने के कारण गीता और रामायण के ही प्रमाण अधिक दिये हैं और उन्हीं पर विचार भी अधिक किया है। जिन साधकों ने गीता आदि उक्त ग्रन्थ तो नहीं पढ़े किन्तु १०-२०-३० वर्ष साधना-क्षेत्र में बिताये हैं, वे साधक भी शास्त्रवाक्य-विचार से सम्बन्धित विषय पर अधिक ध्यान न देकर साधनासम्बन्धी विचारों पर अधिक ध्यान देकर ग्रन्थ को पढ़ेंगे तो उन्हें भी लाभ होगा ऐसी आशा है। यह ग्रन्थ साधनसम्बन्धी विविध लेखों का संग्रहरूप है, अतः लेखों में परस्पर क्रम-सङ्गति देखने का तथा पुनरुक्ति आदि दोषों को देखने का कष्ट न करें।

इस ग्रन्थ का प्रथम लेख 'साधन का कर्ता' है यह लेख शास्त्रमर्मज्ञ विचार-शील विद्वानों के लिए विशेष विचारणीय तथा समालोचनीय

है। इसका शास्त्रसंगति-मर्मज्ञ विचारप्रधान विद्वान् तो पूर्ण मनोयोग से सर्वप्रथम ही पठन-मनन-परिशीलन करने की कृपा करें। अन्य सामान्य साधक तो स्व-साधना से सम्बन्धित विषय का सूचीपत्र से ज्ञान प्राप्त कर उसी का प्रथम अध्ययन करें।

साधना का लक्ष्य मोक्ष होता है। अतः मोक्ष, मोक्षप्राप्तकर्ता आत्मा, मोक्षप्रदाता ईश्वर और जिससे मुक्त होना है उस संसार के स्वरूप पर भी विचार साधक को करना आवश्यक होता है। इनका साङ्गोपाङ्ग विवेचन दर्शनशास्त्रों में किया गया है। उनका भी साधनाकाल में साथ साथ अध्ययन किया। मोक्ष, आत्मा, परमात्मा तथा जगत् के स्वरूप का विविधरूप से ही नहीं किन्तु विरुद्धरूप से प्रतिपादन करनेवाले दर्शन-शास्त्रों में किस रूप से एकरूपता विद्यमान है, इसे गुणग्राही दृष्टि से **'सर्वदर्शनसमन्वय'** ग्रन्थ में मैंने दिखाने का प्रयास किया है। यह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है। सर्वदर्शन के मर्मज्ञ विद्वानों के लिए ही यह ग्रन्थ पठनीय है।

वैदिक ऋषियों ने साधना को ही नहीं किन्तु जीवन के सारे क्रिया-कलापों का विधान इस रीति से किया है कि वह मोक्षप्राप्ति में सहायक हो सके। अतः दिनचर्या, जीवनचर्या तथा अन्य विविधचर्याओं का विधान भी शरीरविज्ञान, मनोविज्ञान, परिवारविज्ञान, समाजविज्ञान आदि विविधविज्ञानों के आधार पर किया है। अतः वैदिकचर्या साधना की प्रथम सीढ़ी है, मूलाधार है। इसकी उपेक्षा करके कोई साधना में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। दुर्भाग्यवश वर्तमान में भौतिक-विज्ञान से प्रभावित होकर जनसाधारण ही नहीं किन्तु साधक भी वैदिकचर्या की अवहेलना कर रहे हैं। अतः वैदिकचर्या की उपयोगिता भौतिक-विज्ञान की दृष्टि से भी बताना आवश्यक है, ऐसा विचार कर **'वैदिकचर्या-विज्ञान'** नाम का ग्रन्थ लिखा गया। यह ग्रन्थ भी प्रकाशित हो चुका है। यह ग्रन्थ सभी के पढ़ने योग्य है।

इन ग्रन्थों के मुद्रण कराने के लिए जिन उदारचेता धनदाताओं ने सहायता दी है वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं। विशेष करके श्रीराधेश्याम-जी खेमका, जिन्होंने ग्रन्थ-मुद्रण कराने का पूरा भार वहन किया है, विशेष धन्यवाद के पात्र हैं। क्योंकि द्रव्य प्राप्त हो जाने पर भी यदि राधेश्यामजी मुद्रण कार्य का भार वहन न करते तो मैं ग्रन्थ पाठकों के हाथ में न दे पाता।

शङ्करानन्द सरस्वती। गुरुपूर्णिमा २०३७

परमार्थ-निकेतन। स्वर्गाश्रम (ऋषीकेश)

संशोधित विषय-सूची

नोट—सूची के अङ्क अशुद्ध छप गये थे, इसलिए यह सूची छापनी पड़ी। इसमें मुख्य शीर्षकों के अङ्क दिये गये हैं। तदन्तर्गत विषयों की सूची सुधार कर पाठक पढ़ने की कृपा करें।

विषय-सूची

शुद्धि पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ पंक्ति
जड़ समष्टि	समष्टि	४–१६
तथा अनु	तथा अनन्तु	४–२६
में भी यह	में यह भी	७–१९
कारण	करण	१६–१
यह	उक्त	१६–१२
भाष्य	शाङ्कर भाष्य	१७–४
में वह	आत्मा में यह	१८–२०
उसके	उनके	१९–६
भाव से	से भाव	१९–७
आदि के	आदि	२०–१०
किया	नहीं किया	२२–१०
में	में भी	२२–१६
है	यह सूत्र है	२५–७
दशा	दशा में	२७–१०
वश में	रागद्वेष के वश में	२८–१३
प्रबल	प्रथम	२९–६
प्रेमभाव	प्रेममात्र	४०–४
प्रेमभाव	प्रेममात्र	४४–१८
कार्य	यह कार्य	४७–१९
कह सकते हैं	कहते हैं	४७–२२
पड़ता	जाता	४८–७
में नहीं	में तात्पर्य नहीं	४८–२३

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ पंक्ति
कार्य	कार्य में	६४–२४
तो	तो भी	६८–१
वर्तमान	वर्तमान में	७३–२४
सकामी व्यक्ति	व्यक्ति	७५–२
श्रद्धा तथा	तथा श्रद्धा	७७–१४
कर्म का	कर्म के	७९–२७
गीता २।२७	गीता २।४७	८०–१५
लंरक्षण	संरक्षण	८६–२५
ही है	ही कल्याण का साधन है	८८–२२
का भंग हो जायेगा	भंग हो जायेगी	१०६–१९
भक्तियोग	सकाम भक्तियोग	१०६–२४
निःसन्देह	निःसन्देह कल्याण	१०८–१
इसी	इस	११०–७
जड़रूप	जड़	१२०–१८
गर्क	गर्व	१२४–१४
वरिहार	परिहार	१२४–२२
आधार	आधार तो	१३१–६
का	के लिए	१३४–१४
"	"	१३४–१५
वचन	कटुवचन	१३५–४
वैसे ही	क्या वैसे ही	१५१–१४
अथवा	और	१५९–२३
एक	दिन में एक	१९२–१०
यह	अन्यथा उक्त	२०४–१९

ॐ

श्रीगणेशाय नमः

साधन-विचार

मङ्गलाचरणम्

अखण्डानन्दबोधाय शिष्यसन्तापहारिणे ।
सच्चिदानन्दरूपाय रामाय गुरवे नमः ॥
योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना ।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्
प्राणान् नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम् ॥
नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये !
सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा ।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे !
कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च ॥
स एष आत्माऽऽत्मवतामधीश्वर-
स्त्रयीमयो धर्ममयस्तपोमयः ।
गतव्यलीकैरजशङ्करादिभि-
र्वितर्क्यलिङ्गो भगवान् प्रसीदताम् ॥
केचित् कर्म वदन्त्येनं स्वभावमपरे नृप ! ।
एके कालं परे दैवं पुंसः काममुतापरे ॥
यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः ।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं नो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ॥

साधना का कर्ता

साधना के विषय में कुछ भी लिखने से पूर्व यह विचार कर लेना बहुत आवश्यक है कि साधना का कर्ता कौन है ? इस प्रश्न का सीधा सरल उत्तर यही है कि जो कुछ प्राप्त करना चाहता है या जो कुछ परिहार करना चाहता है, वही साधना का कर्ता होता है । सभी प्राप्तियों तथा परिहारों का पर्यवसान आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति तथा आत्यन्तिक दुःख के परिहार में होता है । सभी शास्त्रों ने अपना (शास्त्र का) पर्यवसान या प्रयोजन मुक्ति बताया है। मुक्ति शब्द का अर्थ होता है छूटना । सभी चराचर प्राणियों के हृदय में दुःख से छूटने की स्वाभाविक इच्छा होती है । इसी लिए उत्तरमीमांसा शास्त्र को छोड़ कर न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग और पूर्वमीमांसा शास्त्रों नें दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति को ही मुक्ति का स्वरूप बताया है । अतः जो दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए साधना करना चाहता है वही पुरुष साधना का कर्ता है ।

उक्त कथन में किसी का विवाद न होने पर भी 'पुरुष' पद वाच्य आत्मा में कर्तृत्व स्वाभाविक है या अस्वाभाविक, अर्थात् औपाधिक है या आरोपित, इसमें विवाद है । इस विवाद का कारण यह है कि श्रुति, स्मृति, युक्ति, अनुभूति तथा दृष्टान्त दोनों पक्षों में मिल जाते हैं, अतः यह निर्णय करना आवश्यक हो जाता है कि साधना के कर्ता पुरुष=आत्मा में कर्तृत्व स्वाभाविक है या अस्वाभाविक अर्थात् औपाधिक है या आरोपित । सांख्य, योग, उत्तरमीमांसा में शाङ्कर वेदान्त ये तीनों आत्मा में स्वाभाविक कर्तृत्व नहीं मानते हैं, इसमें शाङ्कर वेदान्त को प्रतिनिधि बना कर विचार किया जायेगा । न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा में श्रीरामानुजादि पाँचों वैष्णव आचार्य आत्मा में कर्तृत्व स्वाभाविक मानते हैं, इस पक्ष में रामानुजाचार्य को प्रति-निधि बना कर विचार किया जायेगा ।

आत्मा में कर्तृत्व स्वाभाविक नहीं, औपाधिक है

'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृह० ४।३।१५,१६)
'विज्ञानं यज्ञं तनुते' (तैत्ति० २।५।१)

'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।' (गी० ३।२७)
'यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति।' (गी० १३।२९)
'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।' (कठ० १।३।४)

अर्थ—यह आत्मा असङ्ग है (अर्थात् कर्ता और भोक्ता नहीं है)। विज्ञान (बुद्धि)यज्ञ का विस्तार करता है। अहङ्कार से विमोहित पुरुष 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानता है। जो आत्मा को अकर्ता जानता है वही ठीक जानता है। विवेकी लोग शरीर, इन्द्रिय तथा मन (बुद्धि) से युक्त को भोक्ता कहते हैं।

शाङ्कर वेदान्त का कहना है कि इन श्रुति-स्मृतियों में आत्मा को असङ्ग अर्थात् अकर्ता तथा अभोक्ता कहा है तथा आत्मा को कर्ता माननेवाले की निन्दा और अकर्ता जाननेवाले की प्रशंसा की है एवं बुद्धि को कर्ता तथा बुद्धि आदि से युक्त को भोक्ता कहा है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा में कर्तृत्व स्वाभाविक नहीं, किन्तु बुद्धिरूप उपाधि निमित्तक औपाधिक ही है।

सुषुप्ति, समाधि तथा मूर्च्छा में कर्तृत्व की स्पष्ट अनुभूति आबालवृद्ध किसी को भी नहीं होती। जाग्रत् और स्वप्न में बुद्धि के होने पर ही कर्तृत्व की प्रतीति होती है और सुषुप्ति तथा समाधि में बुद्धि के न होने पर कर्तृत्व की प्रतीति नहीं होती, अतः कर्तृत्व बुद्धि का ही धर्म है, आत्मा का नहीं। क्योंकि जिसके होने पर जो प्रतीत हो और न होने पर प्रतीत न हो, वह उसी का धर्म होता है। जैसे जपा-पुष्प की सन्निधि होने पर स्फटिक में रक्तता प्रतीत होती है और न होने पर प्रतीत नहीं होती, अतः रक्तता जपा-पुष्प का ही धर्म है, स्फटिक का धर्म नहीं। इस प्रकार श्रुति, स्मृति, युक्ति, अनुभूति तथा तत्पोषक दृष्टान्त से आत्मा में कर्तृत्व स्वाभाविक सिद्ध नहीं होता, किन्तु बुद्धिरूप उपाधि में ही कर्तृत्व सिद्ध होता है। आत्मा में उसकी प्रतीति तो अविवेक के कारण औपाधिक ही है।

जड़ बुद्धि में कर्तृत्व संभव नहीं

श्रीरामानुजाचार्य आदि का कहना है कि जड़ बुद्धि में कर्तृत्व का होना संभव हो तो समष्टि बुद्धिरूप जड़ प्रकृति में भी जगत् का कर्तृत्व संभव हो सकता है। ऐसी दशा में "ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्र०सू० १।१।५) 'रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्' (ब्र० सू० २।२।१) में सूत्रकार ने तथा उसपर भाष्य करते हुए श्रीशङ्कराचार्यजी ने भी जड़ प्रकृति में जगत् के कर्तृत्व का खण्डन किया है, उससे विरोध होगा। विज्ञान शब्द का अर्थ बुद्धि मान कर जो बुद्धि में कर्तृत्व का समर्थन श्रुति प्रमाण से किया है वह भी ठीक नहीं, क्योंकि स्वयं श्री-शङ्कराचार्यजी ने ही सूत्रभाष्य में विज्ञान-शब्द के बुद्धि अर्थ का खण्डन करके जीव अर्थ किया है। तथा हि—

'ननु विज्ञानशब्दो बुद्धौ समधिगतः कथमनेन जीवस्य कर्तृत्व सूच्यते ? नेत्युच्यते, जीवस्यैवैष निर्देशो न बुद्धेः' (ब्र० सू० २।३।३६)।

वास्तविक बात तो यह है कि यदि जड़ बुद्धि में ही कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं ज्ञातृत्व संभव हो जाता है तो सारे व्यवहार की सङ्गति जड़ बुद्धि से ही सम्पन्न हो जाने के कारण जड़ बुद्धि से पृथक् चेतन आत्मा को मानने की या सिद्ध करने की क्या आवश्यकता है? एवं जड़समष्टि जड़बुद्धिरूप जड़ प्रकृति से ही जगत् की रचना संभव हो जाने पर चेतन ईश्वर को मानने या सिद्ध करने की क्या आवश्यकता है ? इस प्रकार तो आत्मवाद तथा परमात्म-वाद का उच्छेद होकर जड़ भौतिक वाद ही सिद्ध होकर रहेगा।

'जाग्रत् एवं स्वप्न में बुद्धि के होने पर कर्तृत्व की स्पष्ट अनुभूति का होना और सुषुप्ति, समाधि में न होने पर न होना' अनुभवमूलक अन्वय-व्यतिरेकरूप युक्ति से जो कर्तृत्व को बुद्धि का धर्म सिद्ध किया है वह भी ठीक नहीं, क्यों-कि इस युक्ति से तो कर्तृत्व की ही नहीं, किन्तु साक्षित्व, कूटस्थत्व, असङ्गत्व, आदि सभी की स्पष्ट अनुभूति बुद्धि के होने पर ही होती है न होने पर नहीं होती, अतः साक्षित्व, कूटस्थत्व, असङ्गत्व आदि को भी बुद्धि का ही धर्म आप को मानना पड़ेगा। यदि कहें कि साक्षित्व आदि की स्पष्ट अनुभूति तथा अनु-

भूति में बुद्धि का अन्वय-व्यतिरेक करण होने के कारण ही है तो यह उत्तर कर्तृत्व की स्पष्ट अननुभूति तथा अनुभूति में भी समान ही होगा।

जड़ बुद्धि में ही कर्तृत्व मानने पर एक बड़ी आपत्ति यह भी होगी कि मोक्ष की साधना की कर्त्री भी बुद्धि को ही मानना होगा, किन्तु बुद्धि विनाशी होने के कारण मोक्षावस्था में रहेगी ही नहीं, ऐसी दशा में साधन-कर्ता को ही फल की प्राप्ति होने के नियम का भङ्ग हो जायेगा। इस आपत्ति का परिहार करते हुए अद्वैतसिद्धि के प्रथम परिच्छेद में कर्तृत्वाध्यासोत्पत्ति-प्रकरण में श्री-मधुसूदनजी ने कहा है कि 'जातेष्टिपितृयज्ञयोर्व्यभिचारात्' अर्थात् कर्ता को ही फल-प्राप्ति हो, यह नियम नहीं है, क्योंकि जात-कर्म का कर्ता पिता है, किन्तु फल पुत्र को मिलता है एवं श्राद्ध का कर्ता पुत्र होता है, किन्तु फल पिता को मिलता है।

कर्ता ही फल-भोक्ता

श्रीमधुसूदनजी का यह उत्तर अत्यन्त विचारणीय है, क्योंकि 'शास्त्रफलं प्रयोक्तरि' (जैमिनिसू० ३।७।८) इस सूत्र में शास्त्रीय कर्म का फल प्रयोक्ता (कर्मकर्ता) को ही मिलता है ऐसा स्पष्ट कहा है। इस नियम को न मानने पर अनेकों महान् कष्ट सहन करानेवाले तपस्यादि साधनों में तथा सर्वस्वदान-वाले अश्वमेध आदि यज्ञों में ही नहीं सेवा, खेती, व्यापार, चिकित्सा आदि लौकिक सरल साधनों में भी किसी की भी प्रवृत्ति नहीं होगी, इतना ही नहीं किन्तु वेदान्त-विचाररूप साधन के कर्ता को भी अज्ञान-निवृत्तिरूप फल नहीं मिलेगा, इसलिए वेदान्तविचार में भी किसी की भी प्रवृत्ति नहीं होगी। ऐसी दशा में लोक, परलोक तथा मोक्ष कुछ भी सिद्ध न होगा।

यही कारण है कि इन महान् दोषों से बचने के लिए कुछ महापुरुषों ने जातकर्म तथा श्राद्ध आदि को व्यभिचार (नियमभङ्ग) का नहीं, किन्तु नियम के अपवाद का स्थल माना है। कुछ महापुरुषों ने यह कहा है कि 'शास्त्रफलं प्रयोक्तरि' इस नियम का परिष्कार निम्न प्रकार से कर देने पर कहीं भी व्यभिचार नहीं होगा—'जिस फल के उद्देश्य से जिस साधन का विधान जिस कर्ता के लिए किया गया है, उस कर्म के कर्ता को उस उद्देश्यरूप फल की

प्राप्ति अवश्य होती है'। स्वपुत्र की पवित्रतारूप फल के उद्देश्य से जातकर्म का विधान पिता रूप कर्ता के लिए किया गया है, जातकर्म करनेवाले कर्ता पिता को स्वपुत्र की पवित्रता-रूप फल की प्राप्ति होती ही है एवं स्वपिता को स्वर्ग-प्राप्ति करा देना-रूप फल के उद्देश्य से श्राद्ध-कर्म का विधान पुत्ररूप कर्ता के लिए किया गया है, श्राद्ध-कर्म करनेवाले कर्ता पुत्र को 'स्वपिता को स्वर्ग-प्राप्ति करा देना-रूप फल' मिलता ही है। इस प्रकार कहीं भी व्यभिचार नहीं आता।

आत्मा में कर्तृत्व औपाधिक नहीं

जड़ बुद्धि को कर्ता मानने पर उक्त अनेकों अपरिहार्य दोषों की प्राप्ति होती है। ऐसा लगता है कि इसी लिए पद-वाक्य-पारावारप्रवीण, धर्म-धुरीण, भगवत्परायण, सर्वदर्शनमर्मज्ञ, शाङ्करवेदान्तविशेषज्ञ पूज्यपाद करपात्रीजी महाराज एक बार एक महात्मा से कह रहे थे कि 'जड़ बुद्धि को कर्ता मानने-वाले पक्ष में कोई दम नहीं है, इसलिए इस पक्ष का समर्थन नहीं किया जा सकता'। ऐसी दशा में 'बुद्धिरूप उपाधिगत कर्तृत्व धर्म की अविवेक से आत्मा में प्रतीति होने के कारण आत्मा में स्वाभाविक कर्तृत्व नहीं, किन्तु औपाधिक कर्तृत्व है' यह पक्ष भी सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि बुद्धिरूप उपाधि में कर्तृत्व धर्म है ही नहीं, जिसकी अविवेक से आत्मा में प्रतीति हो सके।

यदि कहा जाये कि वस्तुतः कर्तृत्व न केवल जड़ बुद्धि में है और न अवि-क्रिय आत्मा में है, जैसा कि शङ्कराचार्यजी ने स्पष्ट कहा—'परमार्थतस्तु नान्य-तरस्यापि संभवति, अचेतनत्वात् सत्त्वस्य, अविक्रियत्वात् च क्षेत्रज्ञस्य' (ब्र० सू० १।२।१२)। तो भी चेतनविशिष्ट बुद्धि (अंहकार) में कर्तृत्व वैसे ही संभव है जैसे केवल जल में या केवल अग्नि में यन्त्रचालकत्व न होने पर भी दोनों के मिलने पर भाप में यन्त्रचालकत्व होता है। यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि दोनों में कर्तृत्व का अभाव स्वीकार करके विशिष्ट (मिलित) में स्वीकार करने पर एक तो असत्कार्यवाद स्वीकार की आपत्ति होगी, दूसरे चार्वाक विजयी हो जायेगा, क्योंकि जैसे आत्मा तथा अनात्मा (बुद्धि) इन दोनों में कर्तृत्व का

सर्वथा अभाव होने पर भी मिलितों में कर्तृत्व हो सकता है, वैसे ही चारों भूतों में चेतनत्व न होने पर भी मिलितों में चेतनत्व हो सकता है, ऐसा चार्वाक कह सकता है।

यदि कहा जाये कि जैसे केवल काष्ठ में दाहकत्व नहीं, तो भी अग्नि उपारूढ़ काष्ठ में दाहकत्व होता है, वैसे ही केवल जड़ बुद्धि में कर्तृत्व न होने पर भी चेतन उपारूढ़ बुद्धि में कर्तृत्व हो सकता है। यह कथन भी उचित नहीं, क्योंकि इससे तो जैसे अग्नि का ही धर्म दाहकत्व सिद्ध होता है, वैसे ही चेतन-आत्मा का ही धर्म कर्तृत्व है यही सिद्ध होगा।

बुद्धि को विशेषण या उपाधि या उपलक्षण बनावें, सभी पक्षों से यह प्रश्न होता है कि किसका व्यावर्तन करने के लिए इनका प्रयोग किया जा रहा है? क्योंकि आत्मा एक ही है, अनेक नहीं, निरंश तथा निष्प्रदेश होने के कारण अपने ही अंश या प्रदेश के व्यावर्तन में भी विशेषण आदि का उपयोग नहीं हो सकता। यह दोष बुद्धि के स्थान पर अज्ञान को विशेषण आदि बनानेवाले पक्ष में भी समानरूप से प्राप्त होगा।

उक्त दोष के कारण ही यह कथन भी सारहीन हो जाता है कि 'अज्ञान-उपहित-आत्मा ही मोक्ष-साधन का कर्ता है और अज्ञानरहित शुद्ध आत्मा मोक्ष-रूप फल का भागी है। शुद्ध का उपहित से भेद न होने के कारण 'साधनकर्ता ही साधनफल का भागी होता है' इस नियम का तथा 'बन्ध और मोक्ष के सामानाधिकरण्य नियम का भी निर्वाह हो जाता है'। इस पक्ष में भी यह प्रश्न होता है कि शुद्ध का उपहित से भेद मान्य नहीं है तो उपहितगत कर्तृत्व को शुद्ध में क्यों नहीं मानते? एवं शुद्धगत अकर्तृत्व और अज्ञानराहित्य को अज्ञान-उपहित में क्यों नहीं मानते?

सभी पक्षों में यह भी एक दोष है कि सर्वथा असङ्ग, निर्विशेष आत्मा का बुद्धि या अज्ञान-रूप विशेषण या उपाधि से सङ्ग होना तथा उसमें कर्तृत्वादि विशेषता का आना संभव नहीं। जिसमें स्वतः या परतः किसी प्रकार से भी सङ्ग होने से विशेषता का सञ्चार होता है, वह पदार्थ सर्वथा असङ्ग, निर्विशेष हो ही नहीं सकता। यदि कहें कि आरोपित सङ्ग तथा विशेषताओं से पारमार्थिक

असङ्गता तथा निर्विशेषता में कोई बाधा नहीं होती। यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि शाङ्कर वेदान्तसिद्धान्त में आत्मा से अन्य सब के जड़ तथा अध्यारोपित होने के कारण उनमें अध्यारोपकत्व संभव न होने से अगत्या आत्मा को ही अध्यारोपक मानना होगा, इस अध्यारोपकत्वरूप विशेषता से ही निर्विशेषता समाप्त हो जायेगी। इस विषय पर विस्तार से विचार आगे किया जायेगा।

आत्मा में कर्तृत्व अध्यारोपित है

'जो साधन का कर्ता होता है वही साधनफल का भागी होता है' इस व्याप्ति (नियम) को न मानने पर लौकिक और अलौकिक साधनों तथा मोक्षसाधन वेदान्तविचार में भी किसी की भी प्रवृत्ति संभव न होगी, यह महान् दोष प्राप्त होता है। ऐसा लगता है कि इसी कारण से श्रीमधुसूदनजी ने अद्वैतसिद्धि प्रथमपरिच्छेद के कर्तृत्वाध्यासोपपत्ति-प्रकरण में यह पक्षान्तर उपस्थित किया—

यद्वा आरोपितानारोपितसाधारणकर्तृत्वमेव फलभाक्त्वे प्रयोजकम्, तच्चात्मनि अस्त्येव। न च शरीरेऽध्यारोपितकर्तृत्वेन फलभाक्त्वापत्तिः, फलपर्यन्तमसत्त्वेन फलभाक्त्वासंभवात्। नहि कर्तुः फलभाक्त्वनियमं ब्रूमः, किन्तु फलभाजः कर्तृत्वनियमम्, अजनितकर्मफलकर्तरि व्यभिचारात्।

अर्थ—अथवा आरोपित तथा अनारोपित दोनों प्रकार के कर्ताओं में रहनेवाला उभयसाधारण कर्तृत्वमात्र ही फलभागी होने में हेतु है, वह कर्तृत्व आत्मा में है ही। आरोपित कर्तृत्व शरीर में भी है, अतः शरीर भी फलभागी होगा, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि शरीर फलकालपर्यन्त नहीं रहता, अतः फलभागी नहीं हो सकता। 'जो कर्ता होता है वह फलभागी होता है' ऐसा नियम हम नहीं कहते, किन्तु 'जो फलभागी होता है वही कर्ता होता है' ऐसा नियम हम कहते हैं, क्योंकि जिन कर्मों का फल अभी उत्पन्न नहीं हुआ उन कर्मों के कर्ता में फल न होने से नियम का व्यभिचार पाया जाता है।

श्रीमधुसूदनजी के पहले वाक्य का तात्पर्य यह है कि 'कर्ता ही फल-भागी होता है' इस नियम के लिए कर्तृत्व अनारोपित (सत्य) होना चाहिए इसकी कोई आवश्यकता नहीं, किन्तु कर्तृत्व अवश्य होना चाहिए, इसकी ही आवश्यकता है। आत्मा में आरोपित (मिथ्या) कर्तृत्व वेदान्त में भी मान्य है ही, अतः आत्मा ही मोक्षफलभागी होगा, बुद्धि नहीं।

आत्मा में कर्तृत्व अध्यारोपित नहीं

मधुसूदनजी का यह कथन भी अत्यन्त विचारणीय ही है। प्रथम तो यही विचारणीय है कि गर्भाधान करके दूसरे दिन पिता मर गया, उस गर्भ से उत्पन्न बालक ने २० वर्ष बाद अधिकार प्राप्त होने पर श्राद्ध किया, उस श्राद्ध का फलभागी पिता है। २० वर्ष पूर्व मरे उस फलभागी पिता में वर्तमान श्राद्ध का आरोपित कर्तृत्व भी नहीं दिखाया जा सकता, अनारोपित की तो बात ही क्या ? इसी से मधुसूदनजी का यह कथन भी निरस्त हो जाता है कि 'जो फल-भागी होता है वही कर्ता होता है ऐसा नियम हम कहते हैं'। क्योंकि श्राद्ध के फलभागी पिता में श्राद्धकर्तृत्व किसी प्रकार नहीं दिखाया जा सकता। यदि कहें कि श्राद्ध-फलभागी पिता ही तो पुत्ररूप से उत्पन्न होकर श्राद्ध का कर्ता है, तो यह भी मानना होगा कि पुत्ररूप से उत्पन्न पिता ही जातकर्मफल का भागी है। ऐसी दशा में कहीं भी व्यभिचार न होने के कारण 'जातेष्टि-पितृयज्ञयोर्व्यभिचारात्' इन शब्दों द्वारा पूर्व में जातकर्म तथा श्राद्धकर्म में 'कर्ता ही फलभागी होता है' इस नियम का व्यभिचार कैसे दिखाया ? यदि यहां इस नियम का व्यभिचार है तो यहीं 'फलभागी ही कर्ता होता है' इस नियम का भी व्यभिचार है फिर भी कहते हैं कि 'फलभाजः कर्तृत्वनियमं ब्रूमः'। आश्चर्य ! महान् आश्चर्य !!।

आरोपित कर्तृत्व के विषय में यह भी विचारणीय है कि कर्तृत्व (१) पर (दूसरे) से आरोपित है या (२) स्व (अपने) से ही आरोपित है। अर्थात् आरोपक कोई दूसरा है वा स्वयं। प्रथम पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि शाङ्कर वेदान्त में आत्मभिन्न सभी स्वयं आरोपित तथा जड़ होने के कारण आरोपक हो नहीं सकते। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि आपके कूटस्थ निर्विकार आत्मा में

असङ्गता तथा निर्विशेषता में कोई बाधा नहीं होती। यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि शाङ्कर वेदान्तसिद्धान्त में आत्मा से अन्य सब के जड़ तथा अध्यारोपित होने के कारण उनमें अध्यारोपकत्व संभव न होने से अगत्या आत्मा को ही अध्यारोपक मानना होगा, इस अध्यारोपकत्वरूप विशेषता से ही निर्विशेषता समाप्त हो जायेगी। इस विषय पर विस्तार से विचार आगे किया जायेगा।

आत्मा में कर्तृत्व अध्यारोपित है

'जो साधन का कर्ता होता है वही साधनफल का भागी होता है' इस व्याप्ति (नियम) को न मानने पर लौकिक और अलौकिक साधनों तथा मोक्षसाधन वेदान्तविचार में भी किसी की भी प्रवृत्ति संभव न होगी, यह महान् दोष प्राप्त होता है। ऐसा लगता है कि इसी कारण से श्रीमधुसूदनजी ने अद्वैतसिद्धि प्रथमपरिच्छेद के कर्तृत्वाध्यासोपपत्ति-प्रकरण में यह पक्षान्तर उपस्थित किया—

यद्वा आरोपितानारोपितसाधारणकर्तृत्वमेव फलभाक्त्वे प्रयोजकम्, तच्चात्मनि अस्त्येव। न च शरीरेऽध्यारोपितकर्तृत्वेन फलभाक्त्वापत्तिः, फलपर्यन्तमसत्त्वेन फलभाक्त्वासंभवात्। नहि कर्तुः फलभाक्त्वनियमं ब्रूमः, किन्तु फलभाजः कर्तृत्वनियमम्, अजनितकर्मफलकर्तरि व्यभिचारात्।

अर्थ—अथवा आरोपित तथा अनारोपित दोनों प्रकार के कर्ताओं में रहनेवाला उभयसाधारण कर्तृत्वमात्र ही फलभागी होने में हेतु है, वह कर्तृत्व आत्मा में है ही। आरोपित कर्तृत्व शरीर में भी है, अतः शरीर भी फलभागी होगा, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि शरीर फलकालपर्यन्त नहीं रहता, अतः फलभागी नहीं हो सकता। 'जो कर्ता होता है वह फलभागी होता है' ऐसा नियम हम नहीं कहते, किन्तु 'जो फलभागी होता है वही कर्ता होता है' ऐसा नियम हम कहते हैं, क्योंकि जिन कर्मों का फल अभी उत्पन्न नहीं हुआ उन कर्मों के कर्ता में फल न होने से नियम का व्यभिचार पाया जाता है।

श्रीमधुसूदनजी के पहले वाक्य का तात्पर्य यह है कि 'कर्ता ही फल-भागी होता हैं' इस नियम के लिए कर्तृत्व अनारोपित (सत्य) होना चाहिए इसकी कोई आवश्यकता नहीं, किन्तु कर्तृत्व अवश्य होना चाहिए, इसकी ही आवश्यकता है। आत्मा में आरोपित (मिथ्या) कर्तृत्व वेदान्त में भी मान्य है ही, अतः आत्मा ही मोक्षफलभागी होगा, बुद्धि नहीं।

आत्मा में कर्तृत्व अध्यारोपित नहीं

मधुसूदनजी का यह कथन भी अत्यन्त विचारणीय ही है। प्रथम तो यही विचारणीय है कि गर्भाधान करके दूसरे दिन पिता मर गया, उस गर्भ से उत्पन्न बालक ने २० वर्ष बाद अधिकार प्राप्त होने पर श्राद्ध किया, उस श्राद्ध का फलभागी पिता है। २० वर्ष पूर्व मरे उस फलभागी पिता में वर्तमान श्राद्ध का आरोपित कर्तृत्व भी नहीं दिखाया जा सकता, अनारोपित की तो बात ही क्या ? इसी से मधुसूदनजी का यह कथन भी निरस्त हो जाता है कि 'जो फल-भागी होता है वही कर्ता होता है ऐसा नियम हम कहते हैं'। क्योंकि श्राद्ध के फलभागी पिता में श्राद्धकर्तृत्व किसी प्रकार नहीं दिखाया जा सकता। यदि कहें कि श्राद्ध-फलभागी पिता ही तो पुत्ररूप से उत्पन्न होकर श्राद्ध का कर्ता है, तो यह भी मानना होगा कि पुत्ररूप से उत्पन्न पिता ही जातकर्मफल का भागी है। ऐसी दशा में कहीं भी व्यभिचार न होने के कारण 'जातेष्टि-पितृयज्ञयोर्व्यभिचारात्' इन शब्दों द्वारा पूर्व में जातकर्म तथा श्राद्धकर्म में 'कर्ता ही फलभागी होता है' इस नियम का व्यभिचार कैसे दिखाया ? यदि यहां इस नियम का व्यभिचार है तो यहीं 'फलभागी ही कर्ता होता है' इस नियम का भी व्यभिचार है फिर भी कहते हैं कि 'फलभाजः कर्तृत्वनियमं ब्रूमः'। आश्चर्य ! महान् आश्चर्य !!।

आरोपित कर्तृत्व के विषय में यह भी विचारणीय है कि कर्तृत्व (१) पर (दूसरे) से आरोपित है या (२) स्व (अपने) से ही आरोपित है। अर्थात् आरोपक कोई दूसरा है वा स्वयं। प्रथम पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि शाङ्कर वेदान्त में आत्मभिन्न सभी स्वयं आरोपित तथा जड़ होने के कारण आरोपक हो नहीं सकते। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि आपके कूटस्थ निर्विकार आत्मा में

कर्तृत्व की तरह आरोपकत्वरूप विकार का होना भी संभव नहीं है। यदि अन्य कोई गति संभव न होने से तथा बन्ध और मोक्ष का सामानाधिकरण्य करने के लिए मोक्षफलभागी शुद्ध (केवल) आत्मा को ही आरोपक मानेंगे तो केवल आत्मा को आरोपकत्वरूप विकार से युक्त अवश्य मानना होगा तथा केवल आत्मा द्वारा अपने में आरोपित कर्तृत्व की निवृत्ति के लिए साधना का कर्ता भी केवल आत्मा को ही मानना होगा। ऐसी दशा में आप को आत्मा में एक आरोपित कर्तृत्व, दूसरा आरोप का कर्तृत्व (आरोपकत्व) तथा तीसरा साधना का कर्तृत्व, इस प्रकार तीन कर्तृत्व मानने होंगे। अर्थात् एक कर्तृत्व-रूप विकार का परिहार करने के लिए अनेक कर्तृत्वरूप विकार स्वीकार करने पड़ेंगे। इसकी अपेक्षा तो आत्मा में एक स्वाभाविक कर्तृत्व मान लेना ही अच्छा है।

यदि कहें कि कथित तीनों प्रकार के कर्तृत्व आत्मा में आरोपित ही मान्य होने के कारण आत्मा विकारी नहीं हो सकता, क्योंकि आरोपित पदार्थ से अधिष्ठान में विकार का सञ्चार नहीं होता, जैसे आरोपित सर्प से रज्जु में विकार का सञ्चार नहीं होता। यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि अधिष्ठान से भिन्न अध्यारोपक जहां होता है, वहीं अधिष्ठान में विकार नहीं होता। आप के मत में आत्मभिन्न अन्य आरोपक न हो सकने के कारण तथा बन्ध और मोक्ष का मुख्य सामानाधिकरण्य करने के लिए भी अगत्या अधिष्ठानरूप आत्मा को ही अध्या-रोपक मानना पड़ेगा। ऐसी दशा में अध्यारोपकत्वरूप विकार आत्मा में अवश्य-स्वीकार करना पड़ेगा। दृष्टान्त में रज्जु अधिष्ठान से भिन्न देवदत्त अध्यारोपक है, दार्ष्टान्त में नहीं, अतः दृष्टान्त विषम है।

यदि कहें कि अज्ञान-उपहित आत्मा को आरोपक मानेंगे अतः केवल आत्मा में आरोपकत्वरूप विकार भी स्वीकार नहीं करना पड़ेगा। यह भी ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा एक, निरंश तथा निष्प्रदेश होने के कारण कोई व्यावर्त्य न होने से अज्ञान उपाधि किसका व्यावर्तन करेगी ? यह दोष पीछे अज्ञान-उपहित को कर्ता माननेवाले पक्ष का खण्डन करते समय दिया जा चुका है। कथञ्चित् अज्ञान-उपहित आत्मा को आरोपक मान भी लें तो भी आरोप में अज्ञान को

द्वार ही मानना होगा आरोपक तो केवल आत्मा को ही मानना होगा, क्योंकि अज्ञान से अपने में रुग्णता का आरोप करनेवाले देवदत्त में ही आरोपकत्व और अज्ञान में द्वारत्व ही माना जाता है। अन्यथा बन्ध और मोक्ष का सामानाधिकरण्य न हो सकेगा।

आरोपित कर्तृत्व पक्ष में यह भी विचारणीय है कि एक अल्पज्ञ न्यायाधीश को किसी तरह यह ज्ञात हो जाता है कि अमुक व्यक्ति में अमुक कर्म का कर्तृत्व वास्तव में है नहीं, इसके शत्रु या मित्र ने या इसने स्वयं ही अज्ञान से आरोप कर लिया है। ऐसी दशा में जब कि अल्पज्ञ न्यायाधीश भी उस व्यक्ति को दण्ड या पुरस्काररूप फल नहीं देता, तब सर्वज्ञ सर्वेश्वररूप न्यायाधीश स्वर्ग, नरक या मोक्ष की साधना का वास्तव में जो कर्ता नहीं ऐसी आत्मा को अज्ञान से स्व या पर द्वारा आपोपित कर्तृत्व के आधार पर स्वर्ग, नरक या मोक्ष रूप फल कभी भी नहीं दे सकता। उक्त अनेकानेक दोषों के कारण आत्मा में आरोपित कर्तृत्व नहीं माना जा सकता।

मधुसूदनजी की विचित्र विचार-शैली

अद्वैतसिद्धि के कर्तृत्वाध्यासोपपत्ति-प्रकरण में मधुसूदनजी ने यह पूर्वपक्ष उठाया है कि 'यदि बुद्धि ही कर्त्री है, तो मोक्ष साधना की कर्त्री बुद्धि को ही मोक्ष-फलभागी होना चाहिए ? इसका उत्तर देते हुए मधुसूदनजी ने कहा कि 'जो कर्ता हो वही फलभागी हो' ऐसा नियम नहीं, क्योंकि श्राद्ध का कर्ता पुत्र होता है, किन्तु श्राद्ध का फलभागी पिता होता है एवं जातकर्म का कर्ता पिता होता है, किन्तु जातकर्म का फलभागी पुत्र होता है।

'जो साधन का कर्ता होता है वही साधनफल का भागी होता है' इस नियम को सन्देह-रहित दृढ़ता-पूर्वक स्वीकार न करने पर लौकिक तथा अलौकिक सभी प्रकार के साधनों में किसी की कभी भी प्रवृत्ति न होगी। इस महान् दोष के कारण या अन्य किसी कारण से मधुसूदनजी ने पक्षान्तर उपस्थापित किया कि 'कर्ता को ही फलभागी होने के लिए कर्तृत्वमात्र की ही आवश्यकता है, वह कर्तृत्व चाहे अनारोपित (सत्य) हो या आरोपित (मिथ्या) हो। आरोपित मोक्ष-साधन-कर्तृत्व हम आत्मा में मानते ही हैं, अतः आत्मा का मोक्षफलभागी होना ठीक ही है'।

यहाँ पर मधुसूदनजी ने यह ध्यान नहीं दिया कि २० वर्ष पूर्व मरे पिता का जिनके शरीर की भस्म का भी अब कोई अंश अवशेष नहीं रहा, उस श्राद्ध-फलभागी पिता में शरीर-रूप साधन से सम्पन्न होनेवाले श्राद्ध-रूप कर्म का आरोपित कर्तृत्व भी तो नहीं दिखाया जा सकता एवं स्व-शरीर के संचालन में भी असमर्थ सद्योजात पुत्र में भी जातकर्म का आरोपित कर्तृत्व भी नहीं दिखाया जा सकता।

आगे पुनः मधुसूदनजी पूर्वपक्ष उठाते हैं कि "आरोपित कर्तृत्व तो शरीर में भी है, अतः शरीर को ही फलभागी होना चाहिए। इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि 'शरीर फलपर्यन्त नहीं रहता, अतः फलभागी नहीं हो सकता। हम यह नियम नहीं कहते कि 'जो कर्ता होता है वही फलभागी होता है, किन्तु 'जो फलभागी होता है वही कर्ता होता है' यह नियम है, ऐसा कहते हैं, क्योंकि जिन कर्मों ने अभी फल नहीं दिया उन कर्मों के कर्ता में फलभागित्व न होने के कारण 'कर्ता ही फलभागी होता है, इस नियम का व्यभिचार है।"

मधुसूदनजी का यह उत्तर भी अत्यन्त विचारणीय ही है। यदि शरीर फलपर्यन्त न रहने के कारण फलभागी नहीं हो सकता, तो 'बुद्धि भी फल-पर्यन्त नहीं रहती, इसलिए फलभागी नहीं हो सकती' यह उत्तर पहले ही दिया जा सकता, उसे न देकर 'आरोपित कर्ता भी फलभागी हो सकता है' इत्यादि पक्षान्तर क्यों उपस्थापित किया? यदि उपस्थापित किया है तो उसका निर्वाह करके समर्थन करना चाहिए।

'१. कर्ता फलभागी होता है' ऐसा नियम हम नहीं कहते, किन्तु २. फल-भागी कर्ता होता है' ऐसा नियम हम कहते हैं'। ऐसा नियम कहते हुए श्री-मधुसूदन का ध्यान इस बात पर क्यों नहीं गया कि जिस जातकर्म तथा श्राद्ध-कर्म में 'कर्ता ही फलभागी होता है' इस प्रथम नियम का व्यभिचार है उसी जातकर्म तथा श्राद्धकर्म में 'फलभागी ही कर्ता होता है' इस द्वितीय नियम का भी व्यभिचार है। फिर भी द्वितीय को स्वीकार करते हैं, प्रथम को नहीं, इसमें क्या कारण है?

जिन कर्मों का फल अभी उत्पन्न नहीं हुआ उन कर्मों के कर्ता में फल-भागित्व न होने के कारण 'कर्ता ही फलभागी होता है' इस नियम का व्यभिचार दिखाना भी विचित्र विचार-शैली का अपूर्व चमत्कार ही है। ऐसा लगता है कि 'कर्ता ही कर्म-फलभागी होता है' इस नियम का अर्थ मधुसूदनजी यह लगाते हैं कि जिस क्षण जिस कर्म का जो कर्ता होता है, उसी क्षण उस कर्म का फलभागी वह कर्ता होता है' परन्तु ऐसा अर्थ उक्त नियम का है ही नहीं, अतः व्यभिचार दिखाना संभव नहीं।

'कर्ता ही कर्म-फलभागी होता है' इस नियम का अर्थ यह है कि यदि प्रायश्चित्त या ज्ञान आदि के द्वारा कर्म (कर्मजन्य अदृष्ट) को प्रतिबन्धित या विनष्ट न कर दिया जाये तो करोड़ों कल्पों में भी उस कर्म का नाश न होगा। उस कर्म के कर्ता को उसका फल अवश्य भोगना ही पड़ेगा—

'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।'

(ब्रह्मवै० उत्तर ५।८१।५५)

यदि ऐसा अर्थ ही मधुसूदनजी को भी स्वीकार है, तो व्यभिचार दिखाना संभव नहीं। वस्तुतः कर्म और फल में कारण-कार्यभाव होता है, इसी लिए इन दोनों का युगपत् एक साथ होना संभव ही नहीं। कारण अपने सहकारी कारणों के होने पर कालान्तर में ही कार्य उत्पन्न करता है। अतः कर्मरूप कारण भी देश, काल आदि सहकारियों के सहयोग से परिपक्व होकर कालान्तर में ही कर्ता को फलभागी बनाता है। ऐसा स्वभाव सभी कर्मों का स्वीकार करना पड़ता है। ऐसी दशा में सभी कर्म सहकारी के अभाव काल में अपने कर्ता को फलभागी नहीं बनाते, अतः किसी कर्मविशेष में व्यभिचार दिखाना व्यर्थ है, क्योंकि प्रतिबन्धरहित सहयोगियों के होने पर सभी कर्म कर्ता को ही फलभागी अवश्य बनाते हैं।

आत्मा में कर्तृत्व स्वाभाविक है

पूर्वोक्त विस्तृत विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जड़ बुद्धि में कर्तृत्व का होना संभव नहीं, इसलिए जड़ बुद्धिरूप उपाधि निमित्तक आत्मा में

औपाधिक कर्तृत्व का होना भी संभव नहीं तथा आत्मा में अध्यारोपित कर्तृत्व है, यह पक्ष तो अनेकानेक अपरिहार्य दोषों से युक्त होने के कारण सर्वथा ही अयुक्त है। अतः परिशेषन्याय-रूप युक्ति से आत्मा में स्वाभाविक कर्तृत्व ही सिद्ध होता है। परिशेषन्यायरूप युक्ति से ही नहीं, किन्तु 'एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः' (प्रश्न० ४।९) इस मन्त्र में स्पष्ट ही आत्मा को कर्ता कहा गया है, अतः श्रुति से तथा बेहोशी या भ्रान्ति से रहित जाग्रत्-अवस्था की 'अहं कर्ता' इस अनुभूति से भी आत्मा में ही स्वाभाविक कर्तृत्व सिद्ध होता है।

विरुद्ध श्रुति-स्मृति-युक्ति-अनुभूतियों की सङ्गति

यदि आत्मा में कर्तृत्व स्वाभाविक है तो प्रकरण के प्रारंभ में प्रदर्शित स्वाभाविक कर्तृत्व की विरोधी श्रुति, स्मृति, युक्ति तथा अनुभूतियों की सङ्गति कैसे होगी? यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। इनकी समुचित सङ्गति जाने बिना सन्तोष न होगा, अतः इनकी सङ्गति बताना परम आवश्यक है।

'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' यह मन्त्र वृहदारण्यक उपनिषद् ४।३।१५,१६ इन दो मन्त्रों में आता है। ये दोनों मन्त्र स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्था का प्रतिपादन करते हैं। शाङ्करमतानुसार भी विचार किया जाये तो सुषुप्ति तथा स्वप्न अवस्था में क्रमशः अविद्या तथा अन्तःकरण युक्त ही आत्मा रहता है, उसमें कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व का अभावरूप असङ्गत्व तो शङ्कराचार्य को भी मान्य नहीं, क्योंकि शङ्कराचार्यजी को भी सर्व-उपाधिवियुक्त शुद्ध आत्मा में ही कर्तृत्व भोक्तृत्व का अभाव-रूप असङ्गत्व मान्य है। इसके अतिरिक्त इन्हीं दोनों मन्त्रों में 'रत्वा चरित्वा' ऐसा भी कहा है। ये दोनों शब्द स्पष्ट ही कर्तृत्व और भोक्तृत्व का प्रतिपादन कर रहे हैं। ऐसी दशा में 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इस वाक्य में आया 'असङ्ग' पद कर्तृत्व-भोक्तृत्व के अभावरूप असङ्गत्व का प्रतिपादक कदापि नहीं हो सकता। अतः 'असङ्ग' पद का अर्थ यहां जाग्रत्-स्वप्नरूप अवस्थाओं तथा तद्गत पदार्थों से पृथक्ता ही लेना ठीक है।

ऊपर उल्लिखित प्रश्नोपनिषद् के ४।९ मन्त्र में आत्मा को जैसे स्पष्ट शब्द से कर्ता कहा है, वैसे स्पष्ट शब्द से आत्मा को अकर्ता उन उपनिषदों में कहीं भी नहीं कहा जिन उपनिषदों को श्रीशङ्कराचार्यजी ने प्रमाण मानकर उनपर भाष्य लिखा है। इससे अति स्पष्ट हो जाता है कि परिशेषन्यायरूप युक्ति से ही नहीं, किन्तु प्रबलप्रमाण श्रुति से भी आत्मा में स्वाभाविक कर्तृत्व ही सिद्ध होता है, औपाधिक या आरोपित नहीं। उन श्रुति, स्मृति तथा सूत्रों में तो उपाधि, आरोप, कल्पित, मिथ्या, विवर्त तथा अध्यस्त आदि शब्दों का कहीं प्रयोग ही नहीं मिलता, जिनपर श्रीशङ्कराचार्यजी ने भाष्य लिख कर विवर्तवाद की स्थापना की है।

श्रुति के अनुकूल ही स्मृति का अर्थ करना चाहिए, अतः—

'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते।'

(गी० ३।२७)

'यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति।'

(गी० १३।२९)

इन स्मृतियों में जो क्रमशः आत्मा को कर्ता माननेवाले की निन्दा तथा अकर्ता जाननेवाले की प्रशंसा की गई है, उसका तात्पर्य आत्मा में स्वाभाविक कर्तृत्व के सर्वथा अभाव में अथवा औपाधिक या आरोपित कर्तृत्व के प्रतिपादन में नहीं, किन्तु 'प्रकृतिकार्य शरीर, इन्द्रिय तथा बुद्धि से वियुक्त केवल आत्मा में शरीरादि से युक्त होने पर होनेवाला अशुद्ध कर्तृत्व नहीं' इस अर्थ के प्रतिपादन में ही है। इसका कारण यह है कि उसी गीता के—

'तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥'

(गी० १८।१६)

अर्थ—(सभी कर्मों की सिद्धि में अधिष्ठान आदि पाँचों के हेतु होने पर भी) जो मनुष्य अशुद्धबुद्धि होने के कारण कर्मों के होने में केवल आत्मा को कर्ता समझता है, वह दुष्टबुद्धि ठीक नहीं देखता।

इस श्लोक में 'केवल' अर्थात् अधिष्ठान (शरीर), कारण (इन्द्रिय, मन आदि) पूर्वकथित पाँचों साधनों से रहित केवल आत्मा को शरीरादि से मिल कर होनेवाले प्राकृत कर्मों का कर्ता जो मानता है उसी की निन्दा की गई है और उसी को ठीक न देखनेवाला कहा गया है। जिससे स्पष्ट ध्वनित होता है कि शरीर, इन्द्रिय, मन आदि पाँचों साधनों से युक्त होने पर ही आत्मा प्राकृत कर्मों का कर्ता होता है, केवल आत्मा नहीं। यही श्रुति भी कहती है—

'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।'

(कठ० १।३।४)

'यथा च तक्षोभयथा' (ब्र०सू० २।३।४०) अर्थात् तक्षा (बढ़ई) जैसे वसूला आदि साधन होने पर कुर्सी आदि पदार्थों का बनानेवाला होता है, साधन न होने पर बनानेवाला नहीं होता। इस सूत्र में दिये गये दृष्टान्त से भी यह बात सिद्ध होती है। इस सूत्र में दिये गये दृष्टान्त से आत्मा में आरोपित कर्तृत्व कदापि सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि तक्षा का कर्तृत्व न तो अज्ञानजन्य है और न ज्ञानबाध्य ही है, केवल साधनसापेक्ष ही है। साधन-सापेक्ष कर्ता का कर्तृत्व साधन न होने पर सर्वथा निवृत्त नहीं हो जाता, यह बात तो श्रीशङ्कराचार्यजी भी स्वीकार करते ही हैं। तथाहि—

'न च सहायापेक्षस्य कर्तुः कर्तृत्वं निवर्तते'

(ब्र०सू० २।३।३७)

कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे व्यक्ति का लेखकत्व लेखनीरूप साधनसापेक्ष होने पर भी व्यक्ति में ही लेखकत्व है, लेखनी में नहीं, लेखनी तो करणमात्र है। वैसे ही आत्मा का कर्तृत्व शरीर, इन्द्रिय, मन आदि करणसापेक्ष होने पर भी आत्मा में ही कर्तृत्व है, बुद्धि आदि में नहीं, बुद्धि तो करणमात्र है। बुद्धि करण ही है कर्ता नहीं, यह बात श्रीशङ्कराचार्य भी मानते हैं। देखिये— 'शक्तिविपर्ययात्' (ब्र०सू० २।३।३८) के भाष्य में कहा है—

'यदि पुनः विज्ञानशब्दवाच्या बुद्धिरेव कर्त्री स्यात् ततः शक्तिविपर्ययः स्यात्। करणशक्तिर्बुद्धेर्हीयेत कर्तृशक्तिश्चापद्येत'।

अर्थ—'यदि विज्ञानशब्द-वाच्य बुद्धि ही कर्त्री हो तो शक्ति का विपर्यय होगा, अर्थात् बुद्धि की करणशक्ति की हानि होगी और कर्तृत्वशक्ति की प्राप्ति होगी।

इससे पूर्व भी ब्रह्मसूत्र २।३।३६ के भाष्य में कहा है—

'ननु विज्ञानशब्दो बुद्धौ समधिगतः, कथमनेन जीवस्य कर्तृत्वं सूच्यते इति ? नेत्युच्यते, जीवस्यैवैष निर्देशो न बुद्धेः।'

अर्थ—'विज्ञानशब्द तो बुद्धि में रूढ़ है, अतः 'विज्ञान' पद से जीवरूप अर्थ कैसे सूचित होता है ? ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि 'विज्ञानं यज्ञं तनुते। कर्माणि तनुतेऽपि च॥' (तैत्ति० २।५।१) इस श्रुति में 'विज्ञान' पद से जीव का ही निर्देश है, बुद्धि का नहीं।'

इस प्रकार सूत्र २।३।३६ में 'विज्ञान' पद बुद्धि का वाचक नहीं, जीव का वाचक है, ऐसा कहकर भी पुनः आत्मा में कर्तृत्व को औपाधिक सिद्ध करने की धुन में पूर्वापर स्ववचन-विरोध की उपेक्षा करके सूत्र २।३।४० में कहते हैं—'यस्त्वयं व्यपदेशो दर्शितः 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' स बुद्धेरेव कर्तृत्वं प्रापयति, विज्ञानशब्दस्य तत्र प्रसिद्धत्वात्।'

अर्थ—'यह जो श्रुति का कथन दिखाया गया था 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' वह कथन तो बुद्धि को ही कर्ता सिद्ध करता है, क्योंकि 'विज्ञान' शब्द बुद्धि के अर्थ में प्रसिद्ध है।'

सूत्र २।३।४० में 'यस्त्वयं व्यपदेशो दर्शितः' इस वाक्य से सूत्र २।३।३६ में पूर्वकथित प्रसङ्ग का परामर्श करके भी विरुद्ध अर्थ कथन करना यह सिद्ध कर देता है कि यह पूर्वापरविरोध विस्मरणमूलक नहीं। इसी लिए भामती ने पूर्वापरविरोध का उल्लेख करते हुए कहा—

'अभ्युच्चयमात्रमेतन्न सम्यगुपपत्तिः।'

(सूत्र २।३।३६ भामती टीका)

'पदस्माभिः कथितमभ्युच्चयमात्रमेतन्न सम्यगुपपत्तिः, तदितः समुत्थितम्।'

(सूत्र २।३।४०)

शङ्करभाष्य में पूर्वापरविरोध के प्रदर्शन को छोड़कर हमें अपने प्रसंग में इतना ही कहना है कि 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इस श्रुति में 'विज्ञान' पद बुद्धि-वाचक नहीं, किन्तु जीववाचक ही है, ऐसा श्रीशङ्कराचार्यजी को भी स्वीकार होने से 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इस श्रुति से बुद्धि में कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता। बुद्धि तो करण ही है, अतः बुद्धि आदि करणसापेक्ष कर्ता आत्मा के कर्तृत्व की निवृत्ति करण का अभाव होने पर नहीं हो जाती, केवल अनभिव्यक्ति ही होती है। इतनेमात्र से न तो बुद्धि में कर्तृत्व सिद्ध होता है और न आत्मा में औपाधिक या आरोपित कर्तृत्व ही सिद्ध होता है। अन्यथा वसूला आदि करणों का अभाव होने पर तक्षा में कर्तृत्व की अनिभिव्यक्ति होने के कारण वसूला आदि करणों में ही कर्तृत्व मानना होगा और तक्षा में औपाधिक या आरोपित कर्तृत्व मानना होगा।

अब यह प्रश्न होता है कि यदि व्यष्टिबुद्धि तथा समष्टिबुद्धि रूप प्रकृति में कर्तृत्व नहीं है, तो निम्नलिखित गीता के श्लोकों में भगवान् ने प्रकृति को ही सब कर्मों की कर्त्री क्यों कहा है—

'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।'

(गी० ३।२७)

'प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वश.।'

(गी० १३।२९)

उक्त कथन का उत्तर यह है कि प्रकृति के कार्य देव, मनुष्य, पशु आदि प्राणियों के शरीर तथा इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि के साथ मिलकर आत्मा, जो तत्तत् देवादि शरीरों से तदनुरूप विशेष प्रकार की गमनादि क्रिया का कर्ता होता है, में वह विशेष कर्तृत्व प्रकृतिकार्य शरीरादि से सम्बन्ध के बिना नहीं होता। अतः प्राप्त-अप्राप्त विवेकरूप इस अन्वय-व्यतिरेक युक्ति से विशेष प्रकार की गमनादि क्रियाओं का विशेष कर्तृत्व (प्रकृतिकार्य शरीरादि के साथ सम्बन्धित होने पर होनेवाला प्राकृत अर्थात् अशुद्ध कर्तृत्व) केवल आत्मा का नहीं, किन्तु प्रकृति का है। इसी अभिप्राय से गीता आदि शास्त्रों

में प्रकृति को कर्ता कहा है। ऐसा होने पर भी प्रकृति-कार्य शरीरादि का सञ्चालकत्वरूप विशुद्ध कर्तृत्व तो केवल आत्मा में है ही।

सूचना—श्रीरामानुजाचार्य के उक्त कर्तृत्वविषयक भाव को समझने के लिए गीता ३।२७-२९-३०। ५।८-९-१४। १३।२०-२९। १४।१९। १८।१६। श्लोकों का भाष्य तथा उसकी टीका का मनोयोगपूर्वक अध्ययन करना चाहिए। एक दृष्टान्त से उसके विशुद्ध तथा अशुद्ध कर्तृत्व के भाव को नीचे स्पष्ट करने का प्रयास किया जाता है, आशा है कि दृष्टान्त भाव से समझकर पुनः एक-दो बार मनोयोगपूर्वक ऊपर का लिखा प्रसङ्ग पढ़ने पर उनका भाव हृदयङ्गम हो जायेगा।

जैसे प्रकृति के कार्य साइकिल, मोटर साइकिल पर समारूढ़ पुरुष उनका सञ्चालन करके क्रमशः १०-५० मील प्रति घंटे की विशेष गति से गमन करनेवाला (गमनकर्ता) होता है, उन यन्त्रों के विना नहीं। अतः यन्त्रों की प्राप्ति अप्राप्तिरूप अन्वय-व्यतिरेक युक्ति से उक्त विशेष गति से गमन का कर्तृत्वविशेष केवल पुरुष का नहीं, किन्तु प्रकृति के कार्य उक्त यन्त्रों का होने से प्राकृत है अर्थात् प्रकृति का है। प्रकृति के कार्य उक्त यन्त्रों के साथ सम्बन्ध होने पर ही होने के कारण उक्त विशेष गति से गमन का कर्तृत्वविशेष पुरुष में स्वाभाविक नहीं किन्तु प्राकृत अर्थात् अशुद्ध कर्तुत्व है। ऐसा होने पर भी प्रकृति के कार्य यन्त्रों का सञ्चालकत्वरूप विशुद्ध कर्तुत्व तो केवल पुरूष में ही है।

वैसे ही प्रकृति के कार्य देव, मनुष्य, पशु आदि के विशेष विशेष प्रकार के शरीरों तथा इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि के साथ मिल कर होनेवाली विशेष विशेष प्रकार की क्रियाओं का कर्तृत्वविशेष अर्थात् प्राकृत—अशुद्ध कर्तृत्व केवल आत्मा में नहीं, किन्तु प्रकृति के कार्य शरीर, इन्द्रिय आदि का होने से प्राकृत है अर्थात् प्रकृति का है। इसी अभिप्राय से गीता आदि शास्त्रों में इस कर्तुत्व को कहीं प्रकृति का, कहीं गुणों का और कहीं इन्द्रियों का कहा है तथा इस प्राकृत अशुद्ध कर्तुत्व को केवल आत्मा में माननेवालों की निन्दा तथा न माननेवालों की प्रशंसा की है। ऐसा होने पर भी प्रकृति के कार्य शरीरादि का

सञ्चालकत्वरूप विशुद्ध कर्तृत्व तो केवल आत्मा में ही है। इस विशुद्ध कर्तृत्व का ही 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' (ब्र०सू० २।३।३३) से प्रारम्भ होनेवाले कर्तृ-अधिकरण में प्रतिपादन किया गया है। सूत्र का भावार्थ यह है कि आत्मा को कर्ता मानने पर ही शास्त्रप्रतिपादित विधि-निषेधात्मक साधनों की सार्थकता होती है, न मानने पर नहीं होती।

इस प्रकार विस्तार से श्रुतियों तथा स्मृतियों की सङ्गति प्रदर्शित की गई। सुषुप्ति तथा समाधि में जो कर्तृत्व की स्पष्ट अनुभूति नहीं होती, उसका कारण बुद्धिरूप साधन का अभाव ही है। अन्यथा यदि बुद्धि के होने पर कर्तृत्व की स्पष्ट अनुभूति होने से और न होने पर न होनेमात्र से कर्तृत्व को बुद्धि का ही धर्म माना जाये तो आप शाङ्करवेदान्तियों को कूटस्थत्व, साक्षित्व, ब्रह्मत्व आदि को भी बुद्धि का ही धर्म मानना पड़ेगा, क्योंकि बुद्धि के होने पर ही इनकी भी स्पष्ट अनुभूति होती है न होने पर नहीं होती।

अज्ञ पशुपाल भी इस मर्म से अनभिज्ञ नहीं कि सुषुप्ति में कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व की स्पष्ट अनुभूति नहीं होती, ऐसी दशा में दर्शनमर्मज्ञ उक्त मर्म से अनभिज्ञ कैसे हो सकता है। ऐसा होने पर भी जिन दर्शनकारों ने आत्मा में स्वाभाविक कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व माना है, उनका तात्पर्य यह नहीं कि आत्मा हर समय भोगों को भोगता या क्रियाओं को कर्ता रहता है, इसलिए आत्मा में स्वाभाविक कर्तृत्व और भोक्तृत्व मानना चाहिए। उनका तात्पर्य तो केवल इतना ही है कि इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के क्रिया तथा भोग के साधन होने पर आत्मा ही कर्ता और भोक्ता होता है, जड़ इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि नहीं, क्योंकि कर्तृत्व और भोक्तृत्व शक्ति चेतन आत्मा में ही है, जड़ बुद्धि आदि में नहीं। अतः बुद्धि आदि साधन न होने पर भले ही आत्मा स्पष्ट कर्ता और भोक्ता न बन सके तो भी उसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व शक्ति तो सदा रहती है। जैसे अग्नि इंधन के अभाव में भले ही स्पष्ट दहन कार्य न करे, तो भी दाहकत्व (दहनशक्ति) तो सदा अग्नि में ही रहती है। अतः आत्मा में स्वाभाविक कर्तृत्व मानने पर युक्ति तथा अनुभूति के साथ भी कोई विरोध नहीं आता।

कर्तृत्व के विषय में निर्णय

यद्यपि मैंने १५-२० वर्षों तक शांकर वेदान्त के लघु, विशाल, प्रौढ़ और अप्रौढ़, पञ्चदशी से लेकर अद्वैतसिद्धि तक अद्वैत-ग्रन्थों का ही अधिक अध्ययन और अध्यापन किया और कराया है। तथापि जब निष्पक्ष हृदय से विचार करता हूँ, तब इस निर्णय पर पहुँचता हूँ कि जिस कर्तृत्वरूप विकार का परिहार करने के लिए शांकर वेदान्त में आत्मा में औपाधिक या आरोपित कर्तृत्व स्वीकार किया गया है, इससे भी विकार का परिहार हो नहीं पाता। इसका कारण यह है कि बुद्धिरूप उपाधि में कर्तृत्व का खण्डन स्वयं श्रीशंकराचार्यजी ने ब्रह्मसूत्र १।१।१२ तथा २।३।३६ के भाष्य में किया है, अतः जब बुद्धिरूप उपाधि में कर्तृत्व नहीं, तब बुद्धिरूप उपाधि निमित्तक आत्मा में औपाधिक कर्तृत्व भी नहीं हो सकता। आत्मा में आरोपित कर्तृत्व का अध्यारोपक अन्य सम्भव न हो सकने के कारण तथा बन्ध और मोक्ष का मुख्यरूप से सामानाधिकरण्य करने के लिए भी अगत्या आत्मा को ही अध्यारोपक शांकर-वेदान्त को भी मानना पड़ता है। ऐसी दशा में कर्तृत्व के स्थान पर अध्यारोपकत्वरूप से विकार आ जाने से विकार का सर्वथा परिहार नहीं हो सका।

इतना ही नहीं, किन्तु स्वरूप के अज्ञान से स्वस्वरूप में कर्तृत्व का अध्यारोप करनेवाले आत्मा को ही इसकी निवृत्ति के लिए वेदान्तविचाररूप साधना का कर्ता मानना होगा तथा वेदान्त-विचार से जन्य आरोपित कर्तृत्व-निवर्तक ज्ञानरूप विकार का उदय तथा तत्फलभागी भी आत्मा को ही मानना होगा। यह कदापि नहीं हो सकता कि अध्यारोपक कोई अन्य हो, अध्यारोप-निवृत्ति की साधना का कर्ता कोई अन्य हो, अध्यारोपनिवर्तक ज्ञान का उदय किसी अन्य में हो और तत्फलभागी कोई अन्य हो। जब कि अध्यारोप-निवृत्ति की साधना का कर्ता आत्मा को अनिवार्यरूप से मानना ही पडता है, तब 'आत्मा को अकर्ता कदापि नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार श्रुति, स्मृति तथा सूत्र की संगति की प्रधानता तथा शास्त्रीय साधनों की सार्थकता को मुख्यता देकर विचार किया जाये तो अकर्तृत्व

पक्ष की अपेक्षा कर्तृत्व पक्ष ही अधिक प्रबल सिद्ध होता है। 'सर्वदर्शन-समन्वय' में दोनों को समवल केवल युक्ति की दृष्टि से कहा है।

प्रश्न—अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब आत्मा को कर्तृत्वरूप विकार से युक्त मानना सर्वथा अनिवार्य है, तब आत्मा निर्विकार कैसे ? 'जो विकारी होता है, वह विनाशी होता है' यह नियम है; अतः विकारी आत्मा अविनाशी कैसे ? 'अविकार्योऽयम्' (गी० २।२५) अर्थात् यह आत्मा विकार-रहित है, इस गीता-वचन से अविरोध कैसे ?

उत्तर—जिन शाङ्कर वेदान्तियों ने आत्मा को अकर्ता माना है, उन्होंने भी गीता के उक्त 'अविकार्य' पद का 'कर्तृत्वरूप विकार से रहित होना' ऐसा अर्थ किया, इससे यही सिद्ध होता है कि प्रकरण के अनुसार अविनाशिता के विरोधी तथा विनाशिता के साधक जन्म, मरण, छेदन, भेदन आदि विकारों से रहित होना ही यहाँ 'अविकार्य' पद का अर्थ है। ऐसी दशा में 'जो विकारी होता है—सो विनाशी होता है' इस नियम का भी यही अर्थ करना चाहिए कि 'जो छेदन, भेदन, जन्मादि विकारों से युक्त होता है सो विनाशी होता है'। ऐसा अर्थ करने में एक कारण यह भी है कि आत्मा को अकर्ता माननेवाले सांख्य और योग दर्शन में तथा आत्मा को कर्त्ता माननेवाले श्रीरामानुजादि वैष्णव दर्शनों में भी प्रकृति को विकारी मानते हुए भी विनाशी नहीं माना जाता।

साधनचतुष्टयसम्पन्न जिन आत्मतत्त्व के जिज्ञासुओं ने शाङ्कर वेदान्त की प्रक्रियानुसार दीर्घकालपर्यन्त लगातार साधना करके अन्तर्मुखता प्राप्त की है तथा समाधि अवस्था में आत्मा के होने पर भी आत्मा में कर्तृत्व का अनुभव नहीं होने के कारण 'आत्मा अकर्त्ता ही है' यह बात मेरे अनुभव से सिद्ध है, ऐसा निष्कपट भाव से दृढ़तापूर्वक माना है तथा कहा है, साधनसिद्ध वे आत्म-तत्त्वज्ञ 'आत्मा को कर्ता मानना अनिवार्य है, अतः आत्मा को अकर्ता कदापि नहीं कहा जा सकता' मेरे इस निर्णय का, स्व-अनुभवविरुद्ध होने के कारण, सत्कार नहीं, किन्तु सर्व प्रकार से तिरस्कार ही करेंगे तथा पूर्वोक्त विस्तार से किये गये सुविचार को भी कुविचार ही कहेंगे।

इसपर मेरा उन साधनसिद्ध आत्मतत्त्वज्ञ महापुरुषों से करबद्ध सविनय यह निवेदन है कि श्रुति, स्मृति तथा युक्ति के आधार पर पूर्वापरसङ्गतिपूर्वक किये विचार का सत्कार न करके स्वानुभूतिविरुद्ध होने के कारण कुविचार कह कर यदि आप उसका तिरस्कार करते हैं, तो क्या कारण है कि साधना प्रारम्भ करने से पूर्व निरन्तर रहनेवाली 'मैं मनुष्य हूँ' ऐसी अपनी प्रत्यक्ष-सिद्ध स्वानुभूति का तिरस्कार करके आपने श्रुति और स्मृति से श्रुत शरीर से पृथक् परोक्ष आत्मतत्त्वविषयक विचार का सत्कार किया? यदि कहें कि श्रुति, स्मृति तथा युक्ति से विरुद्ध होने के कारण उस स्वानुभूति का तिरस्कार किया था, तो क्या कारण है कि पूर्वोक्त प्रकार से विस्तारपूर्वक किये गये पूर्वापर-सङ्गति से युक्त श्रुति-स्मृतियों के विचार का तिरस्कार तो आप स्वानुभूतिमात्र के आधार पर करते हैं, किन्तु श्रुति, स्मृति और युक्ति से विरुद्ध होने पर भी 'आत्मा अकर्ता है' इस स्वानुभूति का तिरस्कार नहीं करते?

कहने का तात्पर्य यह है कि स्वानुभूतिसिद्ध होनेमात्र से ही कोई बात सत्य सिद्ध नहीं हो जाती, क्योंकि अनुभूतियाँ मिथ्या (असत्य) भी हुआ करती हैं। अतः किसी भी अनुभूति को, सत्य सिद्ध होने के लिए, श्रुति, स्मृति तथा युक्ति से समर्थित होने की भी परम आवश्यकता है। अन्यथा 'मैं मनुष्य हूँ' इस अनुभूति को भी सत्य अवश्य मानना पड़ेगा, क्योंकि यह अनुभूति इतनी अधिक सुदृढ़ है कि अनात्मज्ञों के ही नहीं, किन्तु कथित साधनसिद्ध आत्म-तत्त्वज्ञों के सिर पर भी यावद्व्यवहार सवार ही रहती है। इन आत्मतत्त्वज्ञों से यह भी प्रश्न किया जा सकता है कि भले ही आपको आत्मतत्त्व का साक्षा-त्कार हुआ हो, परन्तु आत्मा में कर्तृत्व शक्ति नहीं इसका तो साक्षात्कार आप को हो ही नहीं सकता, क्योंकि शक्ति तो कार्य द्वारा अनुमेय ही होती है प्रत्यक्ष कभी नहीं होती।

यद्यपि पूर्वोक्त निर्णयानुसार आत्मा को कर्ता मानना अनिवार्य है, तथापि जो लोग उसे अकर्ता ही मानते हैं, किन्तु शास्त्रीय विधि-निषेधों का अतिक्रमण नहीं करते तथा आत्मा को कर्ता माननेवालों की तरह दिनरात साधना में

संलग्न रहते हैं, उनकी कोई हानि नहीं हो सकती, क्योंकि हानि तो विधि-निषेध के अतिक्रमण से ही होती है, किसी सत्य या असत्य तथ्य की मान्यता या अमान्यतामात्र से नहीं। यही कारण है कि जो लोग 'आत्मा कर्ता है' इस सत्य तथ्य को मानते तो हैं, किन्तु विधि-निषेधों का अतिक्रमण करते हैं, उनकी हानि अवश्य होगी। सत्य तथ्य की मान्यतामात्र उन्हें बचा न सकेगी। एवं जो लोग अपने को माता-पिता तथा समाज की देन मानते हैं, इसलिए 'इनकी सेवा करना मेरा परम कर्तव्य है' ऐसा मानकर सच्चे हृदय से उनकी सेवा में संलग्न रहते हैं एवं शास्त्रीय विधि-निषेधों का अतिक्रमण नहीं करते; ऐसे देहात्मवादियों की भी असत्य तथ्य की मान्यतामात्र के कारण किसी प्रकार भी दुर्गति नहीं हो सकती।

कर्ता आत्मा स्वतन्त्र है या परतन्त्र

कर्ता आत्मा यदि सर्वथा परतन्त्र ही हो तो भी विधि-निषेधात्मक शास्त्र सार्थक नहीं होंगे, क्योंकि सर्वथा परतन्त्र कर्ता तो प्रेरक की प्रेरणा के अनुसार ही कार्य करेगा वह स्वेच्छानुसार शास्त्रीय विधि-निषेधों का पालन नहीं कर सकता। यदि कहा जाये कि 'कर्ता स्वतन्त्रत्वात्' इस वचनानुसार कर्ता तो स्वतन्त्र ही होता है, अतः कर्ता के परतन्त्र होने का सन्देह ही नहीं हो सकता। तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि स्वानुभूतिमूलक युक्ति तथा श्रुति के वचनानुसार भी कर्ता स्वतन्त्र है या परतन्त्र यह सन्देह उपस्थित होता ही है।

सभी मनुष्यों का यह अनुभव है कि कभी वे स्वेच्छानुसार कार्य में प्रवृत्त होते हैं तो कभी न चाहते हुए भी बलात् उन्हें किसी कार्य में प्रवृत्त होना पड़ता है। इन दोनों स्वानुभूतियों के आधार पर तथा युक्ति से भी मैं स्वतन्त्र हूँ या परतन्त्र यह सन्देह होता है। युक्ति यह है कि यदि मैं सर्वथा परतन्त्र होता तो कभी भी स्वेच्छानुसार कार्य करने में समर्थ न होता तथा यदि मैं सर्वथा स्वतन्त्र होता तो न चाहने पर कभी भी कार्य न करना पड़ता।

श्रुति भी स्वतन्त्रता तथा परतन्त्रता का प्रतिपादन करती है—

'स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते।'

(बृह० ४।४।५) अर्थात् जैसी कामनावाला वह पुरुष होता है वैसा संकल्प करता है, जैसा संकल्प करता है वैसा कर्म करता है ।

'एष ह्येव साधु कर्म कारयति···एष ह्येवासाधु कर्म कारयति ।'

(कौषी० ३।८) अर्थात् यही साधु कर्म कराता है···यही असाधु कर्म कराता है ।

उक्त सन्देह का निराकरण करने के लिए ही 'परात्तु तच्छ्रुतेः' (ब्र० सू० २।३।४१) है । इस सूत्र में कहा कि जीव का कर्तृत्व ईश्वर के अधीन है अर्थात् स्वतन्त्र नहीं । यदि जीव सर्वथा परतन्त्र है स्वतन्त्र नहीं, तो विधि-निषेधात्मक शास्त्र सार्थक कैसे होंगे ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए सूत्रकार व्यासजी कहते हैं 'कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः (ब्रं० सू० २।३।४२) अर्थात् पूर्वकृत कर्मों की अपेक्षा रखते हुए ही ईश्वर जीवों को नये कर्म करने की शक्ति और शरीरादि सामग्री देकर कर्म कराता है, इसलिए विधि-निषेधात्मक शास्त्र सार्थक हैं, निरर्थक नहीं ।

टीकाकारों ने सूत्र के भावार्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा कि जैसे गेहूँ, चना आदि भिन्न-भिन्न प्रकार की योग्यतावाले बीज नूतन अंकुर उत्पादन में पर्जन्य (बादल) के अधीन हैं, क्योंकि वर्षा की सहायता के बिना वे बीज नूतन अंकुर उत्पन्न नहीं कर सकते, परन्तु भिन्न-भिन्न प्रकार के अंकुर तथा फल उत्पन्न करने में तो उनकी भिन्न-भिन्न योग्यता ही कारण है, बादल नहीं, बादल तो उनमें निमित्तमात्र ही है । वैसे ही ईश्वर की सहायता के बिना अर्थात् ईश्वर के द्वारा उचित देश, काल, शरीरादि सामग्रीरूप सहायता प्राप्त किये बिना जीव नूतन कर्म कर नहीं सकते, इस दृष्टि से जीव ईश्वर के अधीन ही हैं, तो भी भिन्न-भिन्न प्रकार के नूतन कर्म करने में जन्मान्तरकृत कर्मजन्य स्वभाव ही कारण है, 'ईश्वर नहीं 'ईश्वर तो बादल की तरह उनमें निमित्त-मात्र ही है । अतः विधि-निषेधात्मक शास्त्र सार्थक हैं, निरर्थक नहीं, क्योंकि शास्त्र के विधि-निषेधज्ञान से अपने स्वभाव का परिवर्तन करके मनुष्य अपना

कल्याण कर सकता है। इसका विशेष विवेचन 'स्वभाव का परिवर्तन कैसे हो ?' इस लेख में देखना चाहिए। 'कर्ता आत्मा स्वतन्त्र है या परतन्त्र' इस विषय में यही निर्णय जानना चाहिए कि ईश्वरप्रदत्त शरीरादि सामग्री के विना जीव कुछ भी करने में समर्थ नहीं; इस दृष्टि से तो ईश्वर के अधीन होने से परतन्त्र है, फिर भी विधि-निषेधज्ञान द्वारा स्वभावपरिवर्तन करके कल्याण करने में स्वतन्त्र है।

स्वभाव का परिवर्तन कैसे हो ?

'सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥'

(गी० ३।३३)

अर्थ—ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति अर्थात् स्वभाव के अनुसार चेष्टा करता है। प्राणी प्रकृति अर्थात् स्वभाव को प्राप्त होते हैं, अतः किसी का निहग्र क्या करेगा।

इस श्लोक को तथा अर्थ को पढ कर साधकों के हृदय में यह शङ्का होना अति स्वाभाविक है कि जब ज्ञानी सिद्ध महापुरुष भी अपने स्वभाव के परवश होकर चेष्टा करते हैं, उनका भी निग्रह कुछ काम नहीं कर पाता, ऐसी दशा अज्ञानी साधक साधना द्वारा अपने स्वभाव का परिवर्तन कैसे कर सकता है ? इस शङ्का का समाधान ही अगले श्लोक में भगवान् ने किया है।

'इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥'

(गी० ३।३४)

अर्थ—इन्द्रियों का अपने अर्थ अर्थात् विषय में राग और द्वेष व्यवस्थित है, उन राग-द्वेषों के वश में नहीं आना चाहिए, क्योंकि राग और द्वेष ही इस साधक के महान् शत्रु हैं।

इन दोनों श्लोकों के भावार्थ का विस्तार करते हुए टीकाकार कहते हैं कि यद्यपि यह निर्विवाद सत्य है कि मनुष्य प्रकृति अर्थात् स्वभाव के अनुसार ही चेष्टा अर्थात् सब प्रकार के शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक व्यापार करता है। तथापि राग-द्वेष का सहकार होने पर ही स्वभाव के अनुसार चेष्टा= व्यापार होता है, राग-द्वेष का सहकार न होने पर स्वभाव के अनुसार व्यापार नहीं होता। जैसे सिंह का स्वभाव हिंसा करने का है, तो भी द्वेषरूप सह-

कारी का अभाव होने के कारण तथा ममतारूप बाधक विद्यमान होने के कारण भूखा होने पर भी अपने बच्चे की हिंसा नहीं करता। वैसे ही शास्त्रीय विधि-निषेधों के ज्ञान द्वारा सहकारी राग-द्वेष के वश में न होने पर स्वभाव अपने अनुसार चेष्टा अर्थात् व्यवहार न करा सकेगा, इस प्रकार स्वभाव का सुधार अर्थात् परिवर्तन किया जा सकता है।

यहाँ तक तो श्लोकों का शब्दार्थ और टीकाकार आचार्यों का भावार्थ लिखा गया। अनुभव के अनुसार विचार किया जाये तो भी श्लोकों का शब्दार्थ और टीकाकार आचार्यों का भावार्थ परम गम्भीरसार से परिपूर्ण सिद्ध होता है। देखिये—सभी मनुष्य अपने स्वभाव के अनुसार विचार, सङ्कल्प एवं वचनव्यापाररूप चेष्टा करते हैं। यह जैसे सभी के अनुभव से सिद्ध है, वैसे ही यह भी सभी के अनुभव से सिद्ध है कि शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, सामाजिक, राजकीय तथा शास्त्रीय विधि-निषेधों के ज्ञान द्वारा राग-द्वेष के वश में न होकर शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक-स्वाभाविक चेष्टाओं पर कभी कभी विजय भी प्राप्त कर लेता है। इसी बात को शंका समाधानपूर्वक विस्तार से और अधिक समझाकर स्पष्ट किया जाता है।

शंका—ऊपर कहे गये शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, सामाजिक, राजकीय तथा शास्त्रीय सभी प्रकार के विधि-निषेधों का ज्ञान रहते हुए भी तथा उनके प्रबुद्ध संस्कारों द्वारा समय पर विरोध करते रहने पर भी मनुष्य न चाहता हुआ भी बाह्य तथा आन्तरिक निषिद्ध चेष्टाएँ करता ही है, अतः यह कैसे माना जा अकता हैं कि ऊपर कहे विधि-निषेधों के ज्ञान द्वारा राग-द्वेषरूप सहकारियों का परिहार करके स्वभाव का सुधार किया जा सकता है।

समाधान—उक्त विधि से कभी कभी कुछ स्थलों में विजय प्राप्त हो जाती है, जब कि यह सभी के अनुभव से सिद्ध है तब यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि उक्त उपाय से विजय होती ही नहीं है। जैसे अतिप्रबल प्रवाह होने पर नौका नदी उतरण का साधन नहीं हो पाती, तो भी अति प्रबल प्रवाह को छोड़कर अन्यत्र सर्वत्र नौका नदी उतरण का साधन होती ही है।

वैसे ही अतिप्रबल स्वभाव को छोड़कर अन्यत्र सर्वत्र स्वभाव का सुधार करने में सफलता मिलती ही है यह बात भी तो सभी के अनुभव से सिद्ध है।

शंका—आपका कथन सत्य है, तो भी यह बतायें कि अतिप्रबल स्वभाव का सुधार कैसे होगा ?

समाधान—जिन स्थलों में स्वभाव का सुधार कर सकते हैं, उन स्थलों में प्रबल सुधार करना चाहिए, इससे स्वभाव के सुधार की कला में आप चतुर हो जायेंगे, जिससे आप शनैः शनैः अति प्रबल स्वभाव का सुधार करने में समर्थ हो जायेंगे। स्वभाव-सुधाररूप कार्य में सच्चे हृदय से की गई ईश्वर-प्रार्थना भी बहुत सहायक होती है।

शंका—कुछ आचार्यों ने तो 'निग्रहः किं करिष्यति' इस वाक्य का यह अर्थ किया है कि 'ईश्वर का निग्रह भी क्या करेगा।' ऐसी दशा में ईश्वर प्रार्थना से सहायता कैसे प्राप्त होगी ? यदि ईश्वर भी निग्रह नहीं कर सकता तो ईश्वर भी सर्वसमर्थ सिद्ध न होकर असमर्थ ही सिद्ध होगा।

समाधान—'ईश्वर का निग्रह भी क्या करेगा' ऐसा अर्थ जो कुछ आचार्यों ने किया है, उसका तात्पर्य यह नहीं है कि ईश्वर क्रमशः शनैः शनैः स्वभाव सुधार में भी सहायक नहीं हो सकता। उक्त वाक्य का तात्पर्य तो केवल इतना ही है कि ईश्वर भी एकदम हठपूर्वक नहीं रोकता। इतनेमात्र से 'ईश्वर भी सर्वसमर्थ सिद्ध न होकर असमर्थ सिद्ध होगा' ऐसी शंका करना भी सर्वथा व्यर्थ है, क्योंकि हानिकर होने के कारण अति प्रबल स्वभाव का एकदम हठ-पूर्वक निरोध न होने का नियम भी सर्वसमर्थ दयालु ईश्वर ने ही बनाया है। अतः स्वनिर्मित नियम का पालन करनेवाले सर्वसमर्थ ईश्वर को असमर्थ कदापि नहीं कहा जा सकता।

शंका—यदि समय पर विधि और निषेध का ज्ञान उदित ही न हो तो फिर सफलता कैसे मिलेगी ?

समाधान—जहाँ जहाँ समय पर ज्ञान उदित हो जाये वहाँ वहाँ सफलता-प्राप्ति का प्रयास करना चाहिए। इसका फल यह होगा कि दूसरे समय में भी ज्ञान का उदय शीघ्र होगा तथा सफलता-प्राप्ति के लिए उत्साह बढ़ेगा।

शंका—जिन्हें विधि-निषेध का बिल्कुल ज्ञान प्राप्त नहीं, उन्हें कैसे सफलता प्राप्त होगी ?

समाधान—मनुष्य जिस देश और काल में उत्पन्न होता है, उस देश तथा काल में प्रचलित शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, सामाजिक, राजकीय तथा शास्त्रीय विधि-निषेधों के ज्ञानों से सर्वथा रहित हो ऐसा हो ही नहीं सकता।

शंका—विपरीत स्वभाव की प्रबलता के कारण विधि-निषेध के ज्ञानों का उदय ही कैसे होगा ?

समाधान—कभी कभी कुछ स्थलों को छोड़कर प्रायः विधि-निषेध-ज्ञानों का उदय होता ही है, यह बात सबके अनुभव से सिद्ध है, अतः अनुभवविरुद्ध होने से शंका बनती ही नहीं।

इस प्रकार विस्तार से साधकों के हृदयागार में होनेवाली शङ्काओं को उठाकर उनका परिहार करके विषय को स्पष्ट किया गया। यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि जैसे रोग-निवृत्ति में औषधि की प्रधानता होती है, तो भी अचूक रामबाण औषधि द्वारा भी उसी के रोग की निवृत्ति होती है, जो औषधि के सहायक सुपथ्य का सेवन तथा कुपथ्य का परित्याग करता है। वैसे ही 'विधि-निषेधज्ञान द्वारा राग-द्वेष के वश में न होना' यह गीतोक्त साधन ही स्वभाव परिवर्तन की एकमात्र अचूक रामबाण औषधि है, तो भी इससे उसी साधक के स्वभाव का परिवर्तन होता है, जो सात्त्विक आहार-विहार, रहन-सहन, सत्सङ्ग-वातावरण आदि सहायक सुपथ्य का सेवन तथा इसके विपरीत राजस और तामस आहार, विहार आदि कुपथ्य का परित्याग करता है।

उदाहरण के लिए कामुक-स्वभाव का परिवर्तन करने की इच्छावाला साधक यदि कामवर्धक मांस-मदिरा, प्याज-लहसुन आदि राजस तथा तामस आहार का सेवन करता रहेगा, अनङ्ग (काम) वर्धक, अङ्ग-प्रदर्शक, चटकीले-भड़कीले वस्त्रों को धारण करेगा, अश्लील चलचित्र (सिनेमा, टेलीविजन) देखेगा तथा गन्दे उपन्यासों को पढ़ेगा तो उस साधक को विधि-निषेधों के ज्ञानमात्र से स्वभाव-परिवर्तन में सफलता नहीं मिलेगी।

कुछ सच्चे साधक यह प्रश्न कर सकते हैं कि जैसा आप ने ऊपर लिखा है, हमने उसी प्रकार सात्त्विक आहार-विहार आदि सुपथ्य का सेवन तथा राजस-तामस कुपथ्यों का परित्याग करके स्वभाव-परिवर्तन करने का साधन किया है, तो भी अमुक स्वाभाविक दोष का दमन करने में कोई उल्लेखनीय उन्नति क्यों नहीं हुई ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि 'कुछ भी उन्नति नहीं हुई' ऐसा तो कोई सच्चा साधक कह ही नहीं सकता, उल्लेखनीय उन्नति न होने का तो एकमात्र कारण स्वाभाविक दोष की अतिशय प्रबलता ही है, जिस पर विजय निग्रह से अर्थात् एकदम हठपूर्वक रोक लगाने से नहीं, किन्तु धैर्ययुक्त बुद्धि से साधना करते रहने पर शनैः-शनैः ही प्राप्त होगी, उतावली करने से काम नहीं होगा। गीता में भगवान् ने स्पष्ट कहा है—

'शनैः शनैरुपरमेद् बुद्धया धृतिगृहीतया।' (गी० ६।२५)

'स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।' (गी० ६।२३)

अर्थ—धैर्ययुक्त बुद्धि से शनैः शनैः उपराम होवे। बिना उकताये निश्चय-युक्त चित्त से उस योग को करना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि जैसे अति तीव्र वेग से चलती हुई गाड़ी को हठपूर्वक एकदम रोकने से गाड़ी तो रुकती नहीं, किन्तु गाड़ी तथा चालक को हानि भी पहुँचती है। वैसे ही अतिशय प्रबल स्वभाव को हठपूर्वक एकदम रोकने से स्वभाव में परिवर्तन तो होता नहीं, किन्तु शारीरिक एवं मानसिक विकृति हो जाती है, जिससे साधक की हानि ही होती है। इस हानि को ध्यान में रख कर ही भगवान् ने शनैः शनैः उपराम होने को कहा है। कुछ टीकाकारों ने भी उक्त हानि को तथा भगवान् के उक्त वचनों को भी ध्यान में रख कर ही यह अर्थ किया है कि 'भगवान् का निग्रह (हठ) क्या करेगा। भगवान् को असमर्थ मानकर वैसा अर्थ नहीं किया। ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'निग्रह' का अर्थ यहाँ हठपूर्वक एकदक रोकना ही है, उसी को भगवान् तथा टीकाकार व्यर्थ बता रहे हैं। शनैः शनैः रोकना तो संभव ही है, इसी लिए स्वभावपरिवर्तन का उपाय आगे के श्लोक में बताया है। यदि स्वभाव का परिवर्तन सर्वथा असंभव है, ऐसा भगवान् को मान्य होता तो उपाय ही क्यों बताते।

यदि किसी को मन और इन्द्रियों की अत्यधिक प्रबलता के कारण विधि-निषेध का ज्ञान समय पर उदित होने पर भी छोटे-छोटे स्थलों पर भी सफलता प्राप्त नहीं होती हो तो उसे अपने ऊपर दण्ड-विधान करना चाहिए। दण्ड-विधान ऐसा करना चाहिए, जिसके कारण अपने को ही पर्याप्त कष्ट उठाना पड़े, जैसे किसी को नमक के बिना भोजन करना कठिन पड़ता हो तो उसे दण्ड-विधान करना चाहिए कि यदि प्रतिज्ञापालन में सफल न हुआ तो एक दिन या एक सप्ताह नमक नहीं खाऊँगा। सफल न होने पर नमक न खाने के कारण जो बेचैनी होगी वह बेचैनी पुनः असफलता का अवसर आने पर सामने आकर खड़ी हो जायेगी, जिससे सफलता प्राप्त करने में बहुत अधिक सहायता मिलेगी। इस प्रकार स्वभाव का शनैः शनैः सुधार हो जायेगा।

यहाँ यह ध्यान दिलाना भी आवश्यक है कि मांस-मदिरा-भक्षण, चोरी, व्यभिचार, हिंसा, गाली-गलौंज तथा मारपीट करा देनेवाला भयंकर क्रोधादि लोक-परलोक में दु.खदायी दोषयुक्त स्वभाव का सुधार करने के लिए ही कठोर दण्ड का विधान करना चाहिए। अधिक नमक खाने जैसे क्षुद्र दोषयुक्त स्वभाव का सुधार करने के लिए न तो कठोर दण्ड का विधान ही करना चाहिए और न अधिक संघर्ष ही करना चाहिए, क्योंकि ऐसे क्षुद्र दोषों से न तो कोई लौकिक या अलौकिक प्रचुर हानि ही होती है और न साधन में ही कोई बड़ी बाधा आती है। ऐसे क्षुद्र दोष तो कालान्तर में प्रायः अपने आप ही नष्ट हो जाते हैं।

वात-पित्त-कफ-प्रधान प्रकृति होने से भी नमक आदि पदार्थ अधिक खाने की रुचि होती है, ऐसी दशा में उन्हें न खाना तो हानिकर और खाना ही लाभप्रद होता है। जैसे पित्त कटु और उष्ण होता है, अतः पित्तप्रधान व्यक्ति को उसे शान्त करनेवाले मधुर और शीतल पदार्थ खाने की इच्छा अधिक होती है, उनका खाना ही उसके लिए हितकर और न खाना अहितकर होता है। इस प्रकार विचारपूर्वक साधन द्वारा जब कि अपने स्वभाव का भी शनैः शनः परिवर्तन किया जा सकता है, तब मन तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेना तो सर्वथा संभव ही है। इसपर विस्तार से विचार 'मन इन्द्रियों पर विजय' नाम के लेख में देखना चाहिए।

●

मन इन्द्रियों पर विजय

'अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ।।
काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।' (गी० ३।३६,३७)

अर्थ—हे कृष्ण ! यह मनुष्य न चाहता हुआ भी बलात्कार से लगाये हुए की भाँति किससे प्रेरित होकर पाप का आचरण करता है । रजोगुण से उत्पन्न यह काम (कामना) ही क्रोध है (जो मनुष्य को बलात् पापाचरण में लगाता हैं) ।

लोभ, मोह आदि के वश होकर भी मनुष्य पापाचरण करता है, उन सब का नाम न लेकर केवल काम का नाम भगवान् ने इसलिए लिया है कि और सब का अन्तर्भाव 'काम' शब्द में ही हो जाता है, जैसे धन की कामना=(राग) को लोभ कहते हैं । इस प्रकार संसार के पदार्थों में काम=कामना=राग=आसक्ति ही बलात् पापाचरण में मनुष्य को लगाती है, यह उत्तर भगवान् ने दिया है । काम को ही क्रोध कहने का तात्पर्य यह है कि जब कामना पूर्ति में बाधा आती है तब वही काम क्रोध के रूप में बदल जाता है, इसी क्रोध के रूपान्तर द्वेष, ईर्ष्या, निन्दा, असूया आदि दुर्गुण हैं । इस प्रकार सभी दोषों का अन्तर्भाव 'काम' में ही हो जाने के कारण 'काम' का नाम ही भगवान् ने लिया है । पापाचरण के हेतुभूत काम का मुख्य निवास-स्थान मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ हैं या जीवात्मा, इसका निर्णय करना भी परमावश्यक होने से प्रथम उसी पर विचार किया जाता है ।

काम का निवास-स्थान

शत्रु के निवास-स्थान का पता लग जाने पर उसका विनाश करने में सुगमता होती है, इसलिए भगवान् कहते हैं कि इस काम का अधिष्ठान अर्थात् निवास-स्थान कहाँ कहाँ है सो सुनो—

'इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥' (गी० ३।४०)

अर्थ—इन्द्रियां, मन और बुद्धि ये इस काम के निवासस्थान कहे जाते हैं। यह काम इन मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा ही ज्ञान को ढक कर जीवात्मा को मोहित करता है।

यहाँ यह सन्देह होता है कि काम रहे तो मन, बुद्धि और इन्द्रियों में और मोहित करे जीवात्मा को, यह कथन वैसा ही है जैसे कोई कहे कि अग्नि रहती तो काष्ठ में है और जलाती आकाश को है। अतः यहाँ विचार करने की आवश्यकता है कि क्या वस्तुतः मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ मुख्यरूप से काम के निवास-स्थान हैं ? या जिस जीवात्मा को काम मोहित करता है, वह जीवात्मा ही काम का मुख्य निवास-स्थान है, मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ मोहित करने में द्वारमात्र होने से उन्हें काम का निवास-स्थान औपचारिक=गौणरूप से कहा गया है। श्लोक में 'एतैः' करणवाची यह तृतीया विभक्ति का प्रयोग भी मन, बुद्धि और इन्द्रियों को द्वारमात्र कह रहा है। युक्ति से भी उक्त सन्देह की पुष्टि होती है, क्योंकि जड़ घट, पटादि पदार्थों में कामना का होना न कहीं देखा गया है और न संभव ही है। मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ भी जड़ ही हैं, अतः ये सब काम के मुख्य निवास-स्थान कैसे हो सकते हैं ?

उक्त सन्देह का निराकरण तभी होगा जब यह निर्णय हो जाये कि मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ करण हैं या कर्ता, क्योंकि कर्ता में ही काम (कामना) होती है करण में नहीं, जैसे लेखनकर्त्ता में ही लिखने की कामना होती है, करणरूप लेखनी में नहीं। मन और इन्द्रियाँ करण ही हैं कर्ता नहीं, इसमें तो किसी का विवाद है ही नहीं। औरों की तो बात ही क्या आत्मा को कर्ता न माननेवालों में सर्वप्रधान भगवान् शङ्कराचार्यजी ने भी जड़ बुद्धि को कर्ता न मानकर करण ही माना हैं (देखिये ब्रह्मसूत्र ३।३६-३८ पर शाङ्करभाष्य) इसी आधार पर मैंने भी 'साधना का कर्ता' इस नामवाले लेख में विस्तारपूर्वक विचार कर यही निर्णय दिया है कि जड़ बुद्धि करण ही है कर्ता नहीं, कर्ता तो चेतन जीवात्मा ही है। अतः इसी निर्णय से यह निर्णय हो जाता है कि

मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ जड़ तथा करण होने से काम के मुख्य निवास-स्थान नहीं, किन्तु इनके द्वारा ही जीवात्मा को काम मोहित करता है, इसलिए द्वार होने के कारण औपचारिक अर्थात् गौणरूप से ही इन्हें काम का निवास-स्थान कहा गया हैं। काम का मुख्य निवास-स्थान कर्ता जोवात्मा ही है।

काम=कामना=आसक्ति=विषयरसरूप पाश से जो विनिर्मुक्त होता उसी में काम का निवास था, वन्ध-मोक्ष-सामानाधिकरण्यरूप इस न्याय से भी चेतन अविनाशी मोक्षभागी आत्मा ही काम का मुख्य अधिष्ठान सिद्ध होता है। गीता में भी कहा—

'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्थ देहिनः।
रसवर्ज रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥' (गी० २।५९)

अर्थ—विषय-भोग न करनेवाले पुरुष के विषय तो निवृत्त हो जाते हैं किन्तु विषयासक्ति निवृत्त नहीं होती, इस स्थितप्रज्ञ पुरुष की आसक्ति भी परमतत्त्व का साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है।

इस श्लोक में आसक्तिरूप वन्ध की निवृत्ति अर्थात् मोक्ष का अधिकरण पुरुष को बताया है। ऐसी दशा में बन्धनरूपा शासक्ति (काम) का मुख्य अधिकरण भी पुरुष ही है, बुद्धि नहीं, क्योंकि बुद्धि तो विनाशी होने से मोक्षावस्था में रहेगी ही नहीं, अतः आसक्तिरूप बन्ध की निवृत्ति अर्थात् मोक्ष का अधिकरण न हो सकने से आसक्तिरूप बन्ध का भी मुख्य अधिकरण=अधिष्ठान=निवास-स्थान नहीं हो सकती। इस प्रकार भी मन, बुद्धि और इन्द्रियों में काम का अधिष्ठानत्व औपचारिक अर्थात् गौण ही सिद्ध होता है। इस विवेचन से यह भी निर्णय हो जाता है कि गीता १३।६ में जो इच्छा (काम), द्वेष, सुख, दुःख आदि को जड़ क्षेत्र का विकार कहा है वह कथन भी औपचारिक अर्थात् गौण ही है, क्योंकि जड़ तत्त्व में इच्छा आदि का होना कदापि संभव नहीं। इस दृष्टि से देखा जाये तो 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' (गी० ३।४२) इस वाक्य का श्रीरामानुजाचार्यजी ने जो यह अर्थ किया है जो बुद्धि से पर है सः=वह काम है' यह अर्थ भी ठीक वैठ जाता है, क्योंकि काम का मुख्य अधिष्ठान जीवात्मा बुद्धि से पर है तब काम भी बुद्धि से पर ही सिद्ध होता है।

इन्द्रियों को प्रथम वश में करने का तात्पर्य

'तस्मात् त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।' (गी० ३।४१)

अर्थ—इसलिए हे अर्जुन ! तुम पहले इन्द्रियों को वश में करके ।

प्रश्न:—यहाँ यह प्रश्न होता है कि जब भगवान् ने ३।४० श्लोक में काम का निवास-स्थान मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ इन तीनों को बताया है तो क्या कारण है कि पहले इन्द्रिय को ही वश में करने को कहते हैं, मन और बुद्धि को नहीं। विचार कर देखा जाये तो पहले बुद्धि को वश में करना अधिक सफलता-दायक सिद्ध होता है। बुद्धि से काम को निकाल देने पर मन उसके लिए संकल्प नहीं करेगा, संकल्प के बिना इन्द्रियाँ भी विषयों में प्रवृत्त नहीं होंगी, क्योंकि निश्चय के अनुसार संकल्प (इच्छा) और इच्छा के अनुसार इन्द्रियों की चेष्टा होती है, यही क्रम सर्वत्र देखने में आने के कारण तथा युक्ति-युक्त होने के कारण सर्वमान्य है।

उत्तर—'निश्चय के अनुसार संकल्प, संकल्प के अनुसार इन्द्रियों की चेष्टा का होना' यह नियम यद्यपि युक्तियुक्त है तो भी इस नियम का जीवन में अधिक प्रयोग कुछ इने-गिने चुने हुए बुद्धिप्रधान महापुरुष ही कर पाते हैं। जैसे सिद्धार्थ (गौतम बुद्ध) ने वृद्ध पुरुष और मुर्दे को देखकर संसार की परि-वर्तनशीलता तथा विनश्वरता का निश्चय बुद्धि से किया, उसी के अनुसार संकल्प का उदय हुआ और संसार का त्याग कर दिया। परन्तु साधारण साधक तो स्वयं वृद्ध हो गये, न जाने कितने मुर्दों को जला चुकते हैं फिर भी संसार से वैराग्य नहीं होता। साधारण साधक तो एक बार नहीं अनेकों बार यह निश्चय कर लेते हैं कि 'विषयों में सुख नहीं' फिर भी विषयों की इच्छा होती है और उनमें प्रवृत्ति भी होती है। बुद्धि से परोक्षरूप में निश्चय ही नहीं किन्तु रोगी कुपथ्यजन्य कष्ट का एक बार नहीं अनेकों बार अपरोक्ष अनुभव कर लेने पर भी कुपथ्य की इच्छा करता है और पुनः पुनः कुपथ्यसेवन कर बैठता है। ऐसे लोगों की ही संख्या अधिक है, अतः ऐसे साधारण साधकों के लिए प्रथम इन्द्रियों को वश में करना ही लाभदायक होने के कारण पहले इन्द्रियों को वश में करने के लिए भगवान् ने कहा है। इनके लिए मन को पहले वश में करने

के लिए कहना तो वैसे ही असम्भव और हानिकर होगा, जैसे कुपथ्य सेवी से यह कहना कि पहले मन में कुपथ्य सेवन की इच्छा का उदय न होने दो बाद में इन्द्रियों से कुपथ्य सेवन छोड़ना।

कुपथ्य-सेवन में तो तात्कालिक कुछ सुख भी होता है, किन्तु जो प्रवृत्ति केवल कष्टप्रद है किन्तु अति अभ्यस्त हो गई है, ऐसे स्थलों पर बुद्धि से निश्चय ही नहीं किन्तु मन में भी इच्छा न होने पर भी अति अभ्यासवशात् बुद्धिप्रधान पुरुष की भी प्रवृत्ति हो जाती है। जैसे जिस मार्ग में चलने का अति अभ्यास हो चुका है, उस मार्ग में किसी विशेष कार्य की सिद्धि के लिए एक कील अपने हाथों से ही गाड़ दी है, अभ्यासवशात् उसी मार्ग से चलने पर चलने से कष्ट हुआ, अतः उस मार्ग को छोड़कर दूसरे मार्ग से चलने का दृढ़ निर्णय बुद्धि से कर लिया, उसी के अनुसार दृढ़ संकल्प भी बन गया, फिर भी अति अभ्यास-वशात् उसी मार्ग में पैरों की प्रवृत्ति हो जाती है। ऐसे अति अभ्यस्त स्थलों में प्रथम इन्द्रिय (पैर) संयम के सिवा और दूसरा कोई उपाय ही नहीं, अतः बुद्धि-प्रधानतारहित साधारण साधकों के लिए तथा अति अभ्यस्त स्थलों में बुद्धि-प्रधानतायुक्त असाधारण साधकों के लिए भी प्रथम इन्द्रियों को वश में करना ही लाभदायक होने के कारण भगवान् ने प्रथम इन्द्रियों को वश में करने के लिए कहा है।

इन्द्रिय-विजय पर शङ्काएँ

'इन्द्रियाभ्यामजय्याभ्यां ब्रह्मादि मशकावधि।
अहो उपस्थजिह्वाभ्यां द्वाभ्यामेव हतं जगत्॥

'इन्द्रियाणि जयन्त्याशु निराहारा मनीषिणः।
वर्जयित्वा तु रसनं तन्निरन्नस्य वर्धते॥'

(भा. ११।८।२०)

'तावज्जितेन्द्रियो न स्याद् विजितान्येन्द्रियः पुमान्।
न जयेद् रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे॥'

(भा. ११।८।२१)

अर्थ---उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) और जिह्वा इन दो अजेय अर्थात् अति कठिनता से जीती जा सकनेवाली इन्द्रियों द्वारा ब्रह्मा से मशक (मच्छर) तक सारा संसार पीड़ित है। भोजन का त्याग कर देनेवाले बुद्धिमान् पुरुष जिह्वा को छोड़कर अन्य इन्द्रियों पर तो शीघ्र विजय प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु जिह्वा इन्द्रिय से भोजन न करने पर तो उसकी लोलुपता और अधिक बढ़ जाती है। दूसरी इन्द्रियों को जीत लेने पर भी तब तक पुरुष जितेन्द्रिय नहीं हो सकता जब तक रसना (जीभ) पर विजय प्राप्त न कर ले, क्योंकि रसना को जीत लेने पर ही सभी इन्द्रियों पर विजय होती है।

इन श्लोकों में जो बातें कही गई हैं, उनमें किसी साधक का विवाद नहीं हो सकता, तो भी यह प्रश्न होता है कि जीभ को वश में कैसे किया जाये ? सदा के लिए भोजन छोड़ देना न शक्य ही है और न उससे जीभ वश में ही हो सकती है, यह बात ऊपर श्लोक में स्पष्ट शब्दों में कही है।

यदि कहा जाये कि मिष्टान्न, घृत, दूध आदि अति स्वादिष्ट भोजन का त्याग कर देने से रसना को वश में किया जा सकता है। यह उत्तर ठीक नहीं, क्योंकि कुछ लोग स्वभाव से ही मिष्टान्नप्रिय न होने के कारण मिष्टान्न नहीं खाते उनकी भी रसना वश में नहीं होती, क्योंकि नमकीन देखते ही उनके भी मुख में पानी भर जाता है। यदि कहा जाये कि जो भोजन जिसे अति रुचिकर हो उसका त्याग कर देना ही रसना का वश में करना है। यह उत्तर भी ठीक नहीं, क्योंकि भागवत के उक्त श्लोकानुसार तथा सबके अनुभवानुसार उस वस्तु के प्रति रसना की लोलुपता और अधिक बढ़ जाती है। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि शरीर में उन नमक आदि तत्त्वों की कमी हो जाने पर शरीर में रोग उत्पन्न होकर साधना में बाधा भी आ सकती है। यदि कहा जाये कि शारीरिक तत्त्वों की पूर्ति के लिए अति रुचिकर पदार्थ कभी कभी खा लेना चाहिए परन्तु प्रतिदिन न खाये, प्रतिदिन तो उन्हीं पदार्थों को खाये जो अति रुचिकर न हों। यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जिस पदार्थ को प्रतिदिन खाया जायेगा वही कालान्तर में अति रुचिकर हो जायेगा, अतः कहाँ तक परिवर्तन किया जायेगा। इतना ही नहीं अति अरुचिकर मिर्च आदि

पदार्थ प्रतिदिन खाते रहने पर इतने अधिक रुचिकर हो जाते हैं कि उनके विना सारा भोजन हो अरुचिकर हो जाता हैं। अतः रसना को वश में कैसे किया जाये यह समझ में नहीं आता।

दूसरी प्रवल इन्द्रिय उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) के विषय हैं मूत्र और वीर्य का त्याग करना। इनमें से मूत्र-त्याग का सर्वथा रोकना तो असम्भव तथा अनेक रोगजनक होने से किया ही नहीं जा सकता। काम (आसक्ति) के वश होकर कोई भी मूत्र का त्याग करता नहीं, अतः यहाँ आसक्ति-त्याग भी विजय शब्द से नहीं कहा जा सकता। वीर्य का भी सर्वथा त्याग न करना भी गृहस्थ के लिए संभव नहीं, क्योंकि वंश-रक्षा के लिए, स्त्री को सन्तोष कराने के लिए तथा ऋतुकाल में स्त्रीगमन न करने से होनेवाले पाप से बचने के लिए भी वीर्य का परित्याग करना ही पड़ता है।

गृहस्थ के अतिरिक्त अन्य सभी साधकों का भी स्वप्नदोष आदि द्वारा वीर्यत्याग हो ही जाता है, अतः वीर्यत्याग का अभाव उपस्थ-विजय नहीं कहा जा सकता। जव तक मूत्रेन्द्रिय में अति उत्तेजना होती रहती है तथा मैथुन की इच्छा ही नहीं, किन्तु व्याकुलता होती रहती है, तव तक वलात् वीर्यत्याग को रोक लेने मात्र से 'उपस्थ-विजय हो गया' ऐसा माना भी नहीं जाता। यदि कहें जव मूत्रेन्द्रिय में उत्तेजना और मैथुन की इच्छा भी न हो तव उपस्थ-विजयी हो गया ऐसा कहना चाहिए। यह भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर अति वृद्धों और अति बालकों को उपस्थ-विजयी कहना होगा।

स्वस्थ युवावस्थावालों को तो जैसे मूत्राशय में मूत्र अधिक हो जाने पर मूत्रेन्द्रिय में मूत्रत्याग के लिए उत्तेजना तथा मूत्र-त्याग की इच्छा का होना अनिवार्य है, वैसे ही वीर्य अधिक हो जाने पर वीर्यत्याग के लिए मूत्रेन्द्रिय में उत्तेजना का तथा वीर्यत्याग की इच्छा का होना अनिवार्य है। इसे वैसे ही नहीं रोका जा सकता, जैसे प्यास लगने पर गला का सूखना तथा पानी की इच्छा होना, इन दोनों को रोका नहीं जा सकता। इसी लिए कुछ आधुनिक शरीर-विज्ञान के मर्मज्ञों का कहना है कि जलपिपासा की तरह मैथुनलालसा प्राकृतिक है। वाल्यावस्था में तथा अति वृद्धावस्था में विवेक वैराग्य न होने

पर भी कामोत्तेजना का न होना और युवावस्था में विवेक-वैराग्यवाले सच्चे साधकों में भी कामोत्तेजना का होना, यह सिद्ध कर देता है कि कामोत्तेजना प्राकृतिक है, अविवेक या राग के कारण नहीं, अतः इसे विवेक या वैराग्य से सर्वथा रोका भी नहीं जा सकता। हाँ, वीर्यवर्धक पदार्थों के सेवन को कम करके कामोत्तेजना को कुछ कम भले ही किया जा सकता हो, परन्तु सर्वथा रोका नहीं जा सकता।

यदि कहें कि जैसे युवावस्थावाले स्त्री और पुरुष को भी क्रमशः अपने पिता, भ्राता और पुत्र को तथा माता, बहन और पुत्री को देखकर मूत्रेन्द्रिय में कामोत्तेजना और मन में मैथुन की इच्छा नहीं होती। वैसे ही दूसरे स्त्री-पुरुषों के प्रति पिता, माता आदि की भावना बना लेने से उपस्थ पर विजय हो सकती हे। यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि अपनी माता और अपने पिता आदि में मातृभाव और पितृभाव अति बाल्यावस्था से होने के कारण तथा सर्व देश, सर्व काल और सभी व्यक्तियों द्वारा उसका अनुमोदन होने के कारण इतना ही नहीं प्राकृतिक होने के कारण भी जैसा दृढ़ होता है, उक्त कारणों के न होने से ही नहीं किन्तु उनके विपरीत कारणों के होने के कारण दूसरे स्त्री-पुरुषों में वैसा दृढ़ भाव बनना सम्भव ही नहीं।

कभी-कभी तो उपस्थ इन्द्रिय की इतनी अधिक प्रबलता हो जाती है कि उक्त प्रकारों से दृढ़ तथा प्राकृतिक मातृभाव, पितृभाव आदि का भी अतिक्रमण करके दुष्कर्म में मनुष्य को लगा देती है। ऐसी हृदयविदारक घटनाएँ इस भयङ्कर कलियुग में ही श्रवण करने को मिलती हों ऐसी बात नहीं, किन्तु इसकी संभावना तो सदा ही मानी गई है, तभी शास्त्रों में कहा है—

'नन्वग्निः प्रमदा नाम घृतकुम्भसमः पुमान्।
सुतामपि रहो जह्यादन्यदा यावदर्थकृत्॥' (भाग० ७।१२।९)
'मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नाविविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥' (भाग० ९।१९।१७)

अर्थ—निश्चय ही स्त्री अग्नि और पुरुष घी के घड़े के समान है, इसलिए प्रयोजन को छोड़कर अन्य समय में अपनी पुत्री के साथ भी एकान्त में न रहे।

अपनी माता, बहन तथा पुत्री के साथ भी एक आसन पर न बैठे, ये इन्द्रियाँ अति बलवान् हैं, विद्वानों को भी खींच लेती हैं।

इस प्रकार सूक्ष्मता से विचार करने पर 'उपस्थ पर विजय' कैसे प्राप्त की जाये यह भी समझ में नहीं आता। इन दो प्रबल इन्द्रियों पर ही नहीं निर्बल कही जानेवाली अन्य इन्द्रियों पर भी विजय कैसे प्राप्त हो, यह भी समझ में नहीं आता। देखिये—रसना और शिश्न (मूत्रेन्द्रिय) के बाद व्यवहार में अधिक काम आनेवाली नेत्र और श्रोत्र ये दो ज्ञान-इन्द्रियाँ हैं। इन दोनों इन्द्रियों को पलक बन्द कर, रूई कान में लगाकर रोक देने से प्रवृत्तिप्रधान गृहस्थ साधकों की तो बात ही क्या निवृत्तिप्रधान विरक्त साधकों के जीवन का निर्वाह होना असंभव तो नहीं, कठिन अवश्य हो जायेगा। इन दोनों को रोक देनेमात्र से ये दोनों इन्द्रियाँ वश में हो गईं ऐसा तब तक माना भी नहीं जा सकता जब तक सुन्दर रूप देखने की या मधुर प्रिय शब्द सुनने की इनमें अकुलाहट और मन में इच्छा होती है।

यदि कहा जाये कि संसार का जो रूप और जो शब्द प्रिय लगता हो उसे न देखना, न सुनना ही नेत्र और श्रोत्र को वश में करना है। यह ठीक नहीं, क्योंकि जीवननिर्वाहक आवश्यक कार्य करते हुए नेत्र और श्रोत्र के सामने जो सुन्दर रूप और मधुर शब्द आ जायेगा उसे न देखना, न सुनना मनुष्य के हाथ में नहीं होने से असंभव हैं। यदि कहें, देख, सुन भले लिये जायें उनमें प्रिय-बुद्धि न हो, यह भी संभव नहीं, क्योकि देखने और सुनने के साथ ही पूर्वसंस्कारों के अनुसार उनमें प्रियबुद्धि का भी उदय होगा ही। कुछ लोगों का कहना है कि स्त्री-पुरुषों के सुन्दर रूप और मधुर शब्द तो प्राकृतिक पदार्थ हैं, इन्हें देखने, सुनने में वैसे ही कोई दोष नहीं जैसे पशुपक्षियों के सुन्दर रूप और मधुर शब्द सुनने और देखने में दोष नहीं। यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि पशु-पक्षी, स्त्री-पुरुष, के सुन्दर रूप, मधुर शब्द सामने आने पर, अपेक्षाकृत कम सुन्दर होने पर भी पुरुष, स्त्री के ही रूप और शब्द पर आकृष्ट होता है एवं स्त्री पुरुष के ही रूप और शब्द पर आकृष्ट होती है। अनुभवानुसारी इस अन्वय-व्यतिरेकरूप

युक्ति से यह अति स्पष्ट हो जाता है कि यह आकर्षण प्राकृत नहीं किन्तु विकृत काम-विकारयुक्त ही है।

घ्राण (नाक) इन्द्रिय से भी सुगन्ध तथा दुर्गन्ध का संयोग होने पर उनका ग्रहण हो जाना तथा पूर्वसंस्कार के अनुसार प्रिय या अप्रिय लगना अनिवार्य है। घ्राण को रोक देना तो जीवन को खतरे में डालना है, इसे तो मूर्खता ही कहना होगा।

त्वचा इन्द्रिय सारे शरीर में भरपूर है, इसे नेत्र इन्द्रिय की तरह पलक बन्द करके या श्रोत्र और घ्राण इन्द्रिय की तरह रुई भरके रोका नहीं जा सकता ऐसी सर्वथा अनावृत त्वचा इन्द्रिय के साथ मृदु, कठोर पदार्थों का स्पर्श रोकना तो सर्वथा ही असंभव है एवं स्पर्श होने पर पूर्वसंस्कारानुसार तथा नेत्रगोलक की त्वचा और पादगोलक की त्वचा के तारतम्यानुसार प्रियता-अप्रियता का भान होना भी सर्वथा अनिवार्य है। ऐसी दशा में किसी भी ज्ञानेन्द्रिय का वश में करना संभव नहीं दीखता, क्योंकि विपयों और ज्ञानेन्द्रियों का सर्वथा संयोग न होने देना निवृत्तिप्रधान विरक्त साधक के लिए भी संभव नहीं। संयोग होने पर उनका ज्ञान तथा पूर्वसंस्कारानुसार प्रिय-अप्रिय बुद्धि का होना अनिवार्य है।

कर्मेन्द्रिय में से अतिप्रवल उपस्थ कर्मेन्द्रिय पर विजय की चर्चा तो प्रथम की जा चुकी है। परस्पर व्यवहार का मुख्य साधन होने के कारण वाणी इन्द्रिय का स्थान दूसरे नम्बर पर आता है। वाणी से शब्दोच्चारणमात्र होता है, किस शब्द का किस ध्वनि से उच्चारण किया जाये, इसमें वाणी की कोई अपनी प्रियता-अप्रियता है ही नहीं। किस शब्द को किस ध्वनि में बोलना, यह तो भिन्न-भिन्न देशों में जैसी परम्परा प्रचलित है, उसी के अनुसार मनुष्य बोलता हैं, निजी प्रियता-अप्रियता के अनुसार नहीं बोलता। ऐसी दशा में निजी प्रियता-अप्रियता से रोकने को तो वाणी पर विजय प्राप्त करना कहा नहीं जा सकता। यदि कहें निज को नहीं किन्तु दूसरे को अप्रिय न लगे ऐसी सत्य, हितकर, मधुर वाणी बोलना ही वाणी का संयम है। यह भी ठीक नहीं, क्योंकि हम किसी से कहते हैं कि 'भय्या, भगवान् का भजन करो यही असार

संसार में सारों का सार है' मेरे इस सत्य हितकर, मधुर स्वर में कहे बचन भी ईश्वर को न माननेवाले के हृदय में अप्रिय लगते हैं। छोटे बालकों को हानि तथा लाभ समझाया नहीं जा सकता, अतः उन्हें भी कठोर भयसूचक शब्दों से धमकाकर ही काम लेना पड़ता है, वे शब्द बालकों को अप्रिय ही लगते हैं। अतः वाणी का संयम भी कैसे किया जाये कुछ समझ में नहीं आता।

हाथ, पैर और गुदा इन तीन कर्मेन्द्रियों का तो अपने विषय ग्रहण, गमन, मलत्याग में राग होता ही नहीं। हाथ और पैरों से तो ज्ञानेन्द्रियों को जो विषय प्रिय है उसका ग्रहण तथा त्याग करने के लिए ही गमनागमन तथा आदान-प्रदानमात्र किया जाता है। गुदा इन्द्रिय में इसे भी दिखाना संभव नहीं, अतः गुदा पर विजय प्राप्त करना क्या है वह बिलकुल ही समझ में नहीं आता।

मन और बुद्धि विजय पर शङ्काएँ

प्रायः सभी साधक यह प्रश्न करते हैं कि 'भगवान् में मन क्यों नहीं लगता ? इसके उत्तर में प्रायः सभी महापुरुष यही उत्तर देते हैं कि 'भगवान् में प्रेम न होने के कारण मन नहीं लगता। इस उत्तर की सत्यता को प्रश्नकर्ता के हृदय में बैठा देने के लिए महापुरुष कहते हैं देखो–पति, पत्नी, पुत्र, पैसा तथा प्रतिष्ठा में प्रेम होने के कारण उनमें मन कैसा लग जाता है कि समय का पता तक नहीं लगता है। प्रश्नकर्ता साधक भी स्वानुभवसम्मत सत्य उत्तर सुनकर सन्तुष्ट सा हो जाता है। महीने दो महीने नहीं, किन्तु २५–५० वर्ष बीत जाते हैं, मन की स्थिति वैसी ही बनी रहती है, पुनः पुनः वही प्रश्न करते हैं, पुनः पुनः वही उत्तर मिलता है, समस्या कुछ भी सुलझती नहीं। अतः यहाँ यह विचार करना आवश्यक हो जाता है कि क्या साधक की साधना ठीक नहीं या उत्तर ही ठीक नहीं।

गम्भीरता से विचार कर देखा जाये तो प्रश्नकर्ता साधक के प्रश्न का अभिप्राय तो यह है कि सदा ही अथवा कम से कम जब मैं भजन-ध्यान करने बैठूँ तब १-२ घंटे तो मन भगवान् को छोड़कर अन्यत्र न जाये, भगवान् में ही स्थिर होकर रहे। साधक के इस अभिप्राय को ध्यान में रखकर उत्तर पर

गंभीरता से विचार किया जाये तो उत्तर में सत्यता का अंश वहुत अल्प मात्रा में निकलता है। यह सत्य है कि जहाँ प्रेम होता है वहाँ मन लगता है, तो भी मन वहाँ सदा के लिए या १-२ घंटे के लिए स्थिर हो जाये उस प्रिय वस्तु को छोड़कर अन्यत्र कहीं जाये ही नहीं, ऐसा योगाभ्यास के विना प्रेमभाव से होना सम्भव नहीं। मेरे इस कथन की सत्यता का अनुभव करने के लिए पति, पत्नी, पुत्र, पैसा, प्रतिष्ठा आदि जिस पदार्थ में सर्वाधिक प्रेम हो उस पदार्थ में १-२ घंटे की तो वात ही क्या १५–२० मिनट भी मन को ऐसा स्थिर करके देखें कि बीच में अन्य पदार्थ का चिन्तन हो ही नहीं।

साधकों को एक वार के ऊपर लिखे प्रयोग से ही यह अनुभव हो जायेगा कि मेरा जिस पदार्थ में सर्वाधिक प्रेम है उसमें भी मेरा मन ५ मिनट भी ऐसा स्थिर नहीं रहा कि बीच में किसी अन्य पदार्थ का चिन्तन ही न हुआ हो। इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रेममात्र से मन के स्थिर होने का अकाट्य नियम नहीं। इसके विपरीत जिन्होंने आसन, प्राणायामादि योग-साधनों का अभ्यास किया है वे योगी जिस वस्तु में उनका प्रेम नहीं है उस वस्तु में ५ मिनट ही नहीं किन्तु ५० मिनट तक मन को ऐसा स्थिर कर देंगे कि बीच में किसी अन्य वस्तु का चिन्तन न होगा। इस अन्वय-व्यतिरेकरूप युक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि मन की स्थिरता में योगाभ्यास ही मुख्य साधन है, प्रेम-मात्र नहीं, अतः जो लोग योगाभ्यास के विना प्रेमभाव से मन को स्थिर करना चाहते हैं उन्हें सफलता कैसे मिलेगी ?

प्रेम की अधिकता से यह तो हो सकता है कि प्रियवस्तुविषयक भिन्न-भिन्न प्रकार के चिन्तनों का प्रवाह १,२या४ घंटे चलता रहे। परन्तु उस चिन्तन-प्रवाह में भी किसी अन्य वस्तु का बीच में चिन्तन होगा ही नहीं, ऐसा प्रतिज्ञा-पूर्वक नहीं कहा जा सकता। जैसे किसी को अपने पुत्र से वहुत प्रेम है, वह पुत्र की हँसना, किलकना, धावन, उठना, वैठना, वोलना आदि चेष्टाओं तथा पुत्र के लिए वस्त्राभूषण, खिलौना, भोजन आदि के सम्पादन की कल्पनाओं के चिन्तन-प्रवाह में १,२ या ३ घंटे मग्न रह सकता है, तो भी बीच में पुत्र के शत्रु, मित्र आदि का या पुत्रसम्वन्धरहित अन्य किसी पदार्थ का चिन्तन होगा ही

नहीं, ऐसा प्रतिज्ञापूर्वक नहीं कहा जा सकता। इस कथन की सत्यता का भी अनुभव कोई भी साधक प्रयोग करके अर्थात् अत्यधिक प्रिय वस्तु का १,२ घंटे चिन्तन करके देख सकता है।

'प्रिय वस्तु के चिन्तन से अन्य चिन्तन का बहुत अंशों में तिरस्कार हो जाता है' इस मनोविज्ञान के आधार पर एक महापुरुष साधकों को यह साधना बताया करते हैं कि 'भये प्रकट कृपाला' यहां से भगवान् की लीला का चिन्तन प्रारंभ करो जब एक लीला का चिन्तन छोड़ कर मन सांसारिक पदार्थों की तरफ जाये तो दूसरी लीला का चिन्तन प्रारंभ कर दो—'सुन शिशु रुदन'। फिर तीसरी का 'कबहुँ उछंग कबहुँ बर पलना'। फिर 'नांचहि निज प्रतिबिम्ब निहारी' फिर 'भोजन करत बुलावत राजा। नहि आवत तजि बाल समाजा'। फिर 'कौशल्या जब बोलन जाई। ठुमुकि ठुमुकि प्रभु चलहिं पराई।' फिर 'भोजन करत चपल चित इत उत अवसर पाय। भाग चले किलकात मुख दधि ओदन लपटाय।' इस प्रकार लीला-चिन्तन द्वारा भगवान् में मन सुगमता से लग जायेगा। यह साधन बहुत सुगम तथा प्रत्यक्षफलदायी है, कोई भी साधक करके देख सकता है।

योगाभ्यास द्वारा जिन्होंने २ घंटे मन को स्थिर कर लेने का अभ्यास कर लिया है, वे भी दूसरे दिन उसी समय या उसी दिन कुछ समय बाद भले ही पुनः दो घंटे मन को स्थिर कर लें, परन्तु अभ्यास के अनुसार २ घंटे मन को स्थिर कर लेने के बाद जब मन बहिर्मुख होता है तब उसी क्षण अथवा जिस दिन दृष्ट या अदृष्ट प्रबल कारणों से मन अति चञ्चल होता है तब आधा घंटे भी स्थिर रखने में समर्थ नहीं हो पाते। ऐसी दशा में योगसाधना द्वारा भी मन पर विजय प्राप्त की जा सकती है यह कैसे माना जाये?

यदि कोई अति प्रबल योगाभ्यास द्वारा जब चाहे, जितनी देर तक चाहे, मन को स्थिर कर लेने में समर्थ भी हो जाये तो भी कोई विशेष लाभ नहीं दीखता, क्योंकि इस प्रकार मन को रोक देनामात्र तो क्लोरोफार्म सुंघा कर मन को मूर्छित कर देने की तरह ही एक उपायमात्र है। महीनों या वर्षों

तक मन को योगाभ्यास द्वारा रोक देनेवाले योगियों के मन में भी समाधि से उठने पर काम (राग) देखने में तथा शास्त्रों द्वारा सुनने में आता है। ऐसी दशा में मन पर विजय हो गई ऐसा कैसे कहा जा सकता है ?

बुद्धि पर विजय का क्या स्वरूप है, यह तो बिलकुल ही समझ में नहीं आता। यदि कहा जाये कि अपने प्रिय विषय में निश्चय करना ही बुद्धि पर विजय करना है। यह ठीक नहीं, क्योंकि सभी अपने प्रिय विषय पर निश्चय करते ही हैं। यदि कहा जाये कि निश्चय ऐसा अटल हो जो फिर कभी भी न टले। यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अनन्त भविष्य में कभी भी मेरा निश्चय नहीं टलेगा ऐसा प्रतिज्ञापूर्वक कहना किसी के लिए भी संभव नहीं है। कारण यह है कि भविष्य अन्धकारमय होता है, पता नहीं कब कैसी क्या-क्या परिस्थितियाँ आ जायेंगी इसको कौन कह सकता है।

मन, बुद्धि और इन्द्रियों की विजय पर विस्तार से की गई शङ्काओं का सार यह है कि इन्हें सर्वथा सर्वदा के लिए रोक देना असंभव है। इतना ही नहीं, किन्तु इनका सर्वथा निरोध करना श्रवण, कीर्तन, सत्संग आदि साधनों का नाशक होने से अहितकर भी है। इन दोषों से बचने के लिए सीमित काल तक रोकने का अभ्यास करने में भी काम (राग) रहते कोई विशेष लाभ नही दीखता और न इतनेमात्र से यही कहा जा सकता है कि मन, बुद्धि और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त हो गई। अतः इनपर विजय प्राप्त होने का क्या स्वरूप है और विजय-प्राप्ति का समुचित क्या उपाय है यह समझ में नहीं आता।

ज्ञातव्य—जो लोग मन, बुद्धि और इन्द्रियों को वश में करने की बातें केवल सुनते सुनाते ही रहते हैं प्रयास कुछ भी नहीं करते, उनको छोड़ कर जो लोग प्रयास करते हैं, उनके हृदय में पूर्वोक्त शङ्काएँ अवश्य उठती हैं, इन्हें एक बार पुनः पढ़ कर पहले स्वयं समाधान करने का प्रयास करें, बाद में आगे लिखा समाधान मनोयोगपूर्वक पढ़ने का प्रयास करें तो अधिक लाभ होगा, क्योंकि स्वयं प्रयास करके प्राप्त समाधान का हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

शङ्काओं का सामान्य समाधान

शङ्काओं का सामान्य तथा विशेष समाधान जानने से पूर्व अर्जुन के प्रश्न और भगवान् के उत्तर को ध्यान में लाना परमावश्यक है। अर्जुन का प्रश्न है कि मनुष्य न चाहते हुए भी किससे लगाया (प्रेरित) हुआ बलात् पाप का आचरण करता है ? भगवान् का उत्तर है काम से। पूर्व में विस्तार से विचार करके यह निर्णय किया जा चुका है कि काम=कामना=इच्छा का मुख्य अधिष्ठान अर्थात् निवास-स्थान कर्ता चेतन जीवात्मा (पुरुष) ही हो सकता है, जड़ करणरूप मन, बुद्धि तथा इन्द्रियाँ नहीं, क्योंकि कर्ता में कामना होती है, करणों में नहीं। ऐसी दशा में जब कि मन, बुद्धि और इन्द्रियों में काम का मुख्यरूप से निवास है ही नहीं, तब इन्हें वश में करके काम का विनाश करने की बात ही असंगत सी हो जाती है। तो भी भगवान् ने कहा ही है, अतः भगवान् का क्या तात्पर्य है, यह विचार करना होगा।

भगवान् का तात्पर्य यह है कि यद्यपि काम मुख्यरूप में पुरुष में ही रहता है, तथापि वह काम मन, बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा ही पुरुष से पापाचरण कराता है, अतः यदि इन्हें वश में कर लिया जाये तो पापाचरण हो ही नहीं सकता। ऐसी दशा में काम बिना इंधन की अग्नि की तरह स्वयं नष्ट हो जायेगा या अकिञ्चित्कर हो जायेगा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ मन, बुद्धि और इन्द्रियों को वश में करने की बात पापाचरण को रोकने के लिए ही कही गई है, कार्य तो इनके द्वारा शुभाचरण करने से ही सम्पन्न हो जायेगा। इसके लिए अल्प काल या दीर्घकालपर्यन्त इन्हें स्थिर या निरुद्ध करने की आवश्यकता नहीं। इसी लिए भगवान् यहाँ इनके सर्वथा निरोध में उपयोगी योगसाधना की चर्चा न करके केवल इतना ही कह सकते हैं कि पुरुष (जीवात्मा) शरीर, इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि से परे (बलवान्) है, इसलिए इन्हें वश में कर सकता है। अतः अर्जुन के प्रश्न और भगवान् के उत्तर की सम्यक् समालोचना करने पर यह सिद्ध होता है कि यहाँ प्रकरणानुसार मन, बुद्धि और इन्द्रियों से पापाचरण न होने देना नहीं, किन्तु पापाचरण न करना ही इन्हें वश में करना है। अल्पकाल या दीर्घकालपर्यन्त स्थिर या निरुद्ध करने की चर्चा यहाँ नहीं है।

'पापाचरण न होने देना' और 'पापाचरण न करना' इन दोनों में क्या अन्तर है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जहाँ पुरुष के प्रयास के बिना कार्य होता है वहाँ 'होना' कहा जाता है और जहाँ पुरुष के प्रयास से कार्य होता है वहाँ 'करना' कहा जाता है। जहाँ पुरुष का प्रयास है वहीं 'करो या न करो' ऐसा विधान हो सकता है, जहाँ पुरुष का प्रयास नहीं वहाँ विधान नहीं हो सकता।

देखिये—जब कान से अशुभ शब्द सुन पड़ता है तथा मन में अशुभ चिंतन हो जाता है, तब बाद में साधक को पता लगता है, पहले नहीं, ऐसी दशा में अशुभ चिंतनरूप पापाचरण न होने देने का विधान कैसे किया जा सकता है। यदि कहा जाये कि आगे पुनः अशुभ चिन्तनरूप पापाचरण न हो इसका तो विधान किया ही जा सकता हैं। यह भी सम्भव नहीं, क्योंकि अगले क्षण क्या अशुभ चिन्तनरूप पापाचरण होगा जब साधक को यह पता ही नहीं, तब उसे रोकने का प्रयास कैसे करेगा ? द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ आदि अशुभ चिन्तनरूप पापाचरण भी जब हो जायेंगे तभी पता चलेगा, हो जाने के बाद न होने देने का विधान तो व्यर्थ ही सिद्ध होगा, अतः ऐसा व्यर्थ का विधान सार्थक शास्त्रों में कैसे हो सकता है ?

इसी लिए अशुभ चिन्तनरूप पापाचरण न होने देने का नहीं, किन्तु न करने का या शुभ चिन्तनरूप शुभाचरण करने का ही विधान शास्त्र करते हैं, क्योंकि 'करना' पुरुषप्रयत्नसाध्य है, इसलिए पुरुष पुरुषार्थ कर सकता है, विधान भी सार्थक होगा। अतः शास्त्रों में कहीं पापाचरण न होने देने का विधान पाया जाये तो उसका भी तात्पर्य पापाचरण न करने में या शुभाचरण करने में ही है, ऐसा जानना चाहिए, अशुभ चिन्तनरूप पापाचरण के न होने देने में नहीं, क्योंकि इसमें पुरुष का पुरुषार्थ कार्य नहीं कर सकता।

शङ्का—यदि अशुभ चिन्तन न होने देने में पुरुष का पुरुषार्थ कार्य नहीं कर सकता है तब तो अशुभ चिन्तन चलता रहेगा, तब अशुभ विषयचिन्तन से उस विषय में आसक्ति होकर उसकी प्राप्ति की कामना उत्पन्न होगी, कामना

में विघ्न होकर क्रोध और क्रोध से सम्मोह उत्पन्न होकर बुद्धि-नाश द्वारा साधक का सर्वनाश होगा। जैसा कि भगवान् ने कहा है—

'ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥' (गी० २।६२,६३)

'अल्पकाल या दीर्घकालपर्यन्त इन्हें (मन, बुद्धि और इन्द्रियों को) स्थिर या निरुद्ध करने की आवश्यकता नहीं' ऐसा जो पूर्व में कहा है वह भी ठीक नहीं, क्योंकि मन, बुद्धि और इन्द्रियों के भीतर से स्थिर या निरुद्ध हुए विना भी बाहर से इन्द्रिय-गोलकों को रोक कर विषयचिन्तन होते रहने पर तो मिथ्याचारी ही कहलायेगा, जैसा कि भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥' (गी० ३।६)

समाधान—'ध्यायतः' 'स्मरन्' इन दोनों पदों का क्रमशः 'विषय-चिन्तन होता हुआ', 'विषयों का स्मरण होता हुआ' ऐसा अर्थ समझने के कारण ही आप को दोनों शङ्काएँ हुई हैं। वस्तुतः यहाँ 'ध्यायतः', 'स्मरन्' इन दोनों पदों का क्रमशः 'ध्यान करता हुआ', 'स्मरण करता हुआ' ऐसा अर्थ ही होता है। अतः इन श्लोकों में जो विषयों का ध्यान (चिन्तन) करता है उसी का विनाश बताया है न कि जिसे विषय-चिन्तन होता है एवं जो विषयों का स्मरण करता है उसे ही मिथ्यावादी कहा है न कि जिसे विषयों का स्मरण होता है। यदि विषयों का स्मरण होनेमात्र से मिथ्याचार या विनाश होने लग जाये तब तो सभी साधकों का विनाश तथा मिथ्याचारी होना अनिवार्य हो जायेगा, क्योंकि प्रारम्भ में सभी साधकों को विषयों का चिन्तन तथा स्मरण होता ही है। यदि न हो तब तो वे साधक नहीं सिद्ध कहलायेंगे। अतः दोनों शंकाएँ पदों का ठीक अर्थ न समझने से हुई हैं।

'अल्पकाल या दीर्घकालपर्यन्त इन्हें (मन, बुद्धि और इन्द्रियों को) स्थिर या निरुद्ध करने की आवश्यकता नहीं' ऐसा जो पीछे कहा गया है वह

स्पष्टतया यह भी कहा है कि 'इसके लिए' अर्थात् पापाचरण को रोकनेमात्र के लिए मन, बुद्धि और इन्द्रियों को स्थिर या निरुद्ध करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि शुभाचरण से ही पापाचरण रुक जाता है, अतः प्रसङ्ग को ध्यान से न पढ़ने के कारण ही शङ्का का उदय हुआ है।

पापाचरण को रोकनेमात्र के लिए मन, बुद्धि और इन्द्रियों के निरोध की आवश्यकता न होने पर भी देह, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि से पृथक् आत्मतत्त्व की स्पष्ट अनुभूति के लिए कुछ काल तक इनके निरोध की अति आवश्यकता है, क्योंकि इनके निरुद्ध हो जाने पर जब इनका जरा भी भान नहीं होता, उस समय आत्मा का स्पष्ट भान होने पर ही यह स्पष्ट अनुभव होता है कि मैं शरीर, मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों से पृथक् हूँ। इसी लिए श्रुति में कहा है—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥' (कठ० २।३।१०)

अर्थ—जिस समय पांचों ज्ञानेन्द्रियां मन के सहित स्थित हो जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती उस अवस्था को परम गति कहते हैं।

अतः प्रवृत्तिप्रधान साधक को भी आत्मतत्त्व का स्पष्ट साक्षात्कार करने के लिए अवश्य ही कुछ कालपर्यन्त मन, बुद्धि और इन्द्रियों के निरोध का अभ्यास करना चाहिए। निवृत्तिप्रधान विरक्त साधक को तो जीवन्मुक्ति के आनन्द तथा विधि-निषेध कर्तव्य से मुक्त होने के लिए दीर्घकालपर्यन्त निरोध का भी अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि 'शरीर, मन आदि दृश्यों का मैं द्रष्टा हूँ' इस प्रकार के केवल बौद्धिक ज्ञान से या अल्पकाल के निरोध में होनेवाले क्षणिक आत्मज्ञानमात्र से प्रवृत्तिपरायण बहिर्मुख पुरुष विधिनिषेधात्मक कर्तव्य से मुक्त नहीं हो सकता, इससे मुक्त तो वही पुरुष हो सकता है जो आत्मा में ही रत, तृप्त तथा सन्तुष्ट होता है। भगवान् ने स्पष्ट कहा है—

'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥'

प्रश्न—अशुभ चिन्तनादिरूप पापाचरण होने में भले ही पुरुष का पुरुषार्थ न होने के कारण उसे रोकने का विधान नहीं किया जा सकता हो, तो भी

उसके रहने के कारण असन्तोष बहुत रहता है, अतः उसके रोकने के लिए क्या उपाय करना चाहिए ?

उत्तर—पापाचरण से असन्तोष का होना ही साधक की उन्नति में कारण होता है, उसे रोकने के लिए एकमात्र उपाय शुभाचरण ही है। क्योंकि पापाचरण प्रवृत्तिकाल में ही होता है, निवृत्तिकाल में नहीं, अतः निवृत्ति (निरोध) मूलक साधना नहीं, किन्तु प्रवृत्तिमूलक शुभाचरण करना ही पापाचरण का सम्यक् विरोधी होने से उसके रोकने का एकमात्र उपाय कहा है। पापाचरण के समकक्ष शुभाचरण के संस्कार सुदृढ़ होने पर पापाचरण का होना बन्द हो जायेगा और शुभाचरण बिना प्रयास के वैसे ही होने लग जायेगा जैसे अभी पापाचरण बिना प्रयास के होता है। शुभाचरण में प्रवृत्ति का एकमात्र उपाय है—विधि-निषेधों के पालन से होनेवाले लाभों पर तथा न पालन करने से होनेवाली हानियों पर अतिशय श्रद्धा का होना।

प्रश्न—शुभाचरण का सुदृढ़ संस्कार हो जाने पर क्या पापाचरण का समूल नाश हो जायेगा अर्थात् फिर कभी किञ्चित् भी पापाचरण न होगा ?

उत्तर—जीव की साधना चाहे कितनी ही उत्कृष्ट क्यों न हो जाये तो भी ईश्वर के ज्ञान के समान जीव का ज्ञान एकरस नहीं रह सकता—

'जो सब के रह ज्ञान एकरस। ईश्वर जीवहिं भेद कहहु कस ॥'

इसलिए कभी भी सिद्धता का अभिमान न करके सदा सावधान रहना चाहिए। इसपर विस्तार से विचार 'वैदिकचर्या-विज्ञान' नाम के ग्रन्थ की भूमिका में 'सर्वगुणयुक्त सर्वदोषविनिर्मुक्त ईश्वर ही होता है, जीव नहीं' इस शीर्षक में किया है, पाठक उसे वहीं पढ़ें। सदा सावधान रहने पर भी यदि काल, कर्म तथा स्वभाव की प्रबलता से कोई छोटी सी गलती हो जाये तो उससे लोक या परलोक नष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि सदा सदाचरण करनेवाले से कदाचित् हुई चूक का हरिजन (भगवान् के भक्त) लोक में सुधार कर लेते हैं, उसे दोष न देकर सुयश ही देते हैं—

'काल कर्म स्वभाव बरियाई। भलेउ प्रकृति-बश चुकहिं भलाई ॥
सो सुधारि हरिजन जिमि लेहीं। दलु दुःख दोष बिमल-जस देहीं ॥'

जब कि हरिजन ही दोष का हरण कर विमल यश लोक में दे देते हैं, तब भक्त के सब दोषों का हरण करनेवाले हरि भगवान् उस क्षुद्र दोष का हरण करके परलोक में विमल सुख दे देवें इसमें तो कहना ही क्या है।

प्रसङ्गतः होनेवाली शङ्काओं का समाधान कर दिया गया। मन, बुद्धि और इन्द्रियों की विजय में की गई पूर्वोक्त 'शंकाओं के सामान्य समाधान' का सार इतना ही है कि 'मन, बुद्धि और इन्द्रियों से पापाचरण न करना ही इनका वश में करना है'। इसका एकमात्र उपाय विधि-निषेधों के फलों पर सुदृढ़ आस्था ही है। मन, बुद्धि और इन्द्रियों की विजय में की गई पूर्वोक्त शंकाओं का आगे विशेषरूप में समाधान दिया जाता है—

शंकाओं का विशेष समाधान

मन, बुद्धि और इन्द्रियों की विजय में की गई पूर्वोक्त शंकाओं का विशेष समाधान जानने से पूर्व यह जानना अत्यावश्यक है कि उनके द्वारा किस किस पापाचरण का विशेषरूप में निषेध किया है उस उस पापाचरण को उनके द्वारा न करना ही उनको विशेषरूप में वश करना कहा जायेगा। इसी से पूर्वोक्त शंकाओं का विशेष समाधान भी हो जायेगा।

रसना पर विजय—जिह्वा (रसना=जीभ) से शरीर, इन्द्रिय, मन, और बुद्धि के पोषक सत्त्वगुण-वर्धक, प्रीतिवर्धक तथा मन को प्रिय लगनेवाले दूध, घृत, मिष्टान्न का सेवन शास्त्र में निषिद्ध नहीं, किन्तु विहित ही है—

'आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विप्रियाः॥' (गी० १७।८)

अर्थ—आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति बढ़ानेवाला, रसयुक्त, स्थिर रहनेवाला तथा स्वभाव से मन को प्रिय हो ऐसा भोजन सात्त्विक पुरुष को प्रिय होता है।

इस श्लोक में कथित 'सुखप्रीतिविवर्धनाः' तथा 'हृद्याः' ये दो पद विशेष ध्यान देने योग्य हैं। इन दो पदों पर विशेष ध्यान दिलाने में मेरा तात्पर्य यह है कि जो साधक ऐसा समझते हैं कि जिस भोजन के करने में

सुख होता हो या प्रसन्नता होती हो या मन को प्रिय लगता हो, वह भोजन करना ही तो जीभ की लोलुपता का स्वरूप है, अतः वे साधक उसके विपरीत भोजन करने का प्रयास करते हैं, परन्तु वैसा करना ठीक नहीं। इससे शरीर रोगी, मन नीरस—खिन्न और बुद्धि विचार करने में असमर्थ हो जाती है, इससे साधन में महान् विघ्न उपस्थित हो जाता है।

हमारे एक गुरुभाई बड़े अच्छे, सच्चे साधक थे। श्रीधरी आदि टीकाओं के आधार पर गंभीर विचार करते हुए ६—७ घंटे प्रतिदिन श्रीमद्भागवत-महापुराण का मनोयोगपूर्वक अध्ययन करते थे। 'जितं सर्वं जिते रसे' (भा० ११।८।२१) अर्थात् रसना को जीत लेने पर सभी इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं। इस वचन के आधार पर उन्होंने जिह्वा को वश में करने के लिए उन सभी पदार्थों को खाना बन्द कर दिया, जिनमें उन्हें स्वाद आता था या खाने का मन करता था या खाने पर प्रसन्नता होती थी और इसके विपरीत हठपूर्वक भोजन खाने लगे। इसका फल यह हुआ कि शरीर अति कृश हो गया, आधा घंटे भी भागवत पढ़ने का उत्साह न रहा, जीवन नीरस—खिन्न होकर भार जैसा हो गया।

जब मुझे एक बार मिले तब उन्होंने सब मुझसे कहा। मैंने उन्हें समझाया कि आपने रसना को वश में करने के लिए जो कदम उठाये हैं, उन्हीं के कारण यह सब हुआ है, आप पूर्ववत् भोजन कीजिए सब ठीक हो जायेगा। उन्होंने मेरी बात मान ली। सब ठीक हो गया। तब मैंने उन्हें यह रहस्य बताया कि शरीरपोषक तत्त्व न मिलने से शरीर कृश हो गया, जिससे मस्तिष्क तन्तुओं में भी शिथिलता आ जाने से बुद्धि विचार करने में असमर्थ हो गई, मन का उत्साह नष्ट हो गया, लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार के रस (आनन्द) का अभाव हो जाने से जीवन नीरस—खिन्न, भाररूप हो गया था। अतः साधक को चाहिए जब तक भजन-ध्यान का अलौकिक रस न आने लगे तब तक शास्त्रविहित लौकिक रसों का हठपूर्वक एकदम त्याग न करे, भजन-ध्यान का अलौकिक रसास्वादन जैसे-जैसे बढ़ेगा वैसे-वैसे ही लौकिक रस स्वयं नीरस होता जायेगा।

कुछ लोगों का कहना है कि जिस वस्तु को खाये विना न रहा जाये उस वस्तु को न खाना ही रसना पर विजय पाना है। यह ठीक नहीं, क्योंकि जैसे शरीर में जलतत्त्व की कमी हो जाने पर जल पीये बिना नहीं रहा जाता, ऐसो दशा में जल न पीना रसना पर विअय पाना नहीं, किन्तु मूर्खता पर विजय पाना ही माना जायेगा। जल की तरह ही नमक आदि तत्त्वों की कमी शरीर में जब हो जाती है तब नमक आदि पदार्थ विना भी नहीं रहा जाता, उस दशा में उन्हें खाना रसनापरवशता का नहीं, किन्तु बुद्धिमत्ता का ही सूचक माना जाता है।

प्रश्न—नमक, मिर्च, खटाई आदि तो राजस आहार में गिनाये गये हैं, उनका खाना तो उचित नहीं। भगवान् ने कहा है—

'कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥' (गी० १७।९)

अर्थ—कड़ुवे, खट्टे, नमकीन, अति-उष्ण, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, शोक, रोगों को उत्पन्न करनेवाले पदार्थ राजस पुरुष को प्रिय होते हैं।

उत्तर—देहली-दीपक न्याय से बीच में रखकर 'अति' शब्द का सभी के साथ सम्बन्ध सूचित किया गया है, अतः अति नमक, मिर्च और खटाईयुक्त भोजन ही राजस आहार माना जाता है, सामान्यरूप में तो नमक खाना सात्त्विक आहार ही है।

घी, दूध, मिष्टान्न आदि सात्त्विक आहार भी अति मात्रा में खाना, या दूसरे के हक का अन्यायपूर्वक अल्प मात्रा में भी खाना वर्जित है एवं दूषित देश, काल, पात्र, पैसा और पुरुष के सम्बन्ध से घृतादि सात्त्विक आहार भी अशुद्ध होकर राजस एवं तामस हो जाते हैं, अतः वे भी नहीं खाने चाहिए। आहार की शुद्धता का विस्तार से विचार जीवनचर्या के भोजन-विज्ञान में किया गया है, उसे अवश्य पढ़ना चाहिए।

निर्णय—शास्त्रनिषिद्ध भोजन करना ही रसना इन्द्रिय द्वारा पापाचरण करना है और यही रसना इन्द्रिय द्वारा पराजय का स्वरूप है। अतः इसके

विपरीत शास्त्रनिषिद्ध-भोजन का न करना ही रसना इन्द्रिय पर विजय प्राप्त करना है। इसके अतिरिक्त भोजन में स्वाद न आना या अभ्यस्त, आवश्यक, कफ आदि प्रकृति के अनुकूल प्रिय भोजन की इच्छा का न होना 'रसना पर विजय प्राप्त करना' नहीं है, क्योंकि वैसा होना असंभव है तथा श्रुति, स्मृति, युक्ति और अनुभूति से सम्मत भी नहीं है। उक्त रसना-विजय का एकमात्र उपाय शास्त्रविहित पूर्ण सात्त्विक आहार का शास्त्रविधि से सेवन करना ही है, भोजन का त्यागना या सर्वथा अरुचिकर भोजन करना नहीं।

सूचना—'शास्त्रनिषिद्ध भोजन का न करना ही रसना पर विजय पाना है, इसके अतिरिक्त रसना पर विजय पाने का जो जो स्वरूप मानकर शङ्काएँ पूर्व में की गई हैं, रसना-विजय का वह वह स्वरूप मान्य न होने के कारण उनका समाधान देने की आवश्यकता नहीं रह गई। शङ्काकर्ता ने स्वपक्ष का मण्डन करने के लिए और जो भी अनेकों युक्तियाँ दी थीं, उनमें से जिनका खण्डन नहीं किया गया वे युक्तियाँ हमें भी मान्य हैं, ऐसा जानना चाहिए। यही सूचना अन्य इन्द्रियों पर की गई शङ्काओं के समाधान के बारे में भी जान लेना।

शिश्न पर विजय—शिश्न (मूत्रेन्द्रिय) का विषय मूत्र तथा वीर्य का त्याग करना है। मूत्र और वीर्य की अधिकता होने पर अङ्गों में तनावजन्य बेचैनी का होना तथा मूत्र और वीर्य के निकलने से तनावजन्य बेचैनी दूर होने के कारण सुखानुभूति का होना अनिवार्य है। इसलिए शास्त्रनिषिद्ध देश, काल और स्थान पर शास्त्रनिषिद्ध रीति से मूत्र तथा वीर्य का त्याग करना शिश्न द्वारा पराजय और न त्याग करना शिश्न पर विजय प्राप्त करना है।

गृहस्थ को छोड़कर ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा संन्यासी के लिए सभी देश, काल, स्थानों पर इच्छापूर्वक वीर्यत्याग का निषेध हैं, अतः इन तीनों द्वारा इच्छापूर्वक वीर्य का त्याग न किया जाना ही शिश्न पर विजय प्राप्त करना है। स्वप्नदोष में इच्छापूर्वक वीर्य का त्याग नही किया जाता, अतः वह शिश्न-विजय का बाधक नहीं हो सकता।

गृहस्थ के लिए स्वस्त्री को छोड़कर अन्यत्र सर्वत्र वीर्यत्याग करने का निषेध है। स्वस्त्री में भी मासिक धर्म होने पर प्रथम के चार दिन अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या, पूर्णिमा, तीर्थों और सभी व्रतों में वीर्यत्याग का निषेध है, अतः इनमें गृहस्थ का वीर्यत्याग न करना ही शिश्न पर विजय प्राप्त करना है। रतिकाल में रतिजन्य सुखानुभूति होना अनिवार्य है, अतः उसका न होना शिश्न पर विजय करना नहीं कहा जा सकता।

देव-मन्दिर, पीपल, तुलसी, गङ्गा आदि पवित्र नदियों के तट पर, गायों के बैठनेवाले स्थान पर, खड़े होकर मल तथा मूत्र का त्याग करना शास्त्र-निषिद्ध है। आलस्य, प्रमाद, समीपता, छाया, धूप आदि की सुविधा या मूर्खता के कारण ऐसा करना मूत्रेन्द्रिय तथा गुदा इन्द्रिय द्वारा पराजय और ऐसा न करना इनपर विजय प्राप्त करना है। इसका एकमात्र उपाय शास्त्र-विधि से मल, मूत्र और वीर्य का त्याग करना ही है।

त्वचा, घ्राण, नेत्र और श्रोत्र पर विजय—त्वचा, घ्राण, नेत्र और श्रोत्र से स्पर्श, गन्ध, रूप और शब्द का सम्बन्ध होने पर उनका ज्ञान होना, पूर्वसंस्कारानुसार उनमें प्रियता अथवा अप्रियता का होना तथा प्रिय के पुनर्ग्रहण की इच्छा का होना अनिवार्य है। इन इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने का स्वरूप यही है कि इनके द्वारा विषयों का प्रथम ज्ञान होने पर यदि वे शास्त्रनिषिद्ध हों तो पुनः उनका प्रयत्नपूर्वक स्वेच्छा से ग्रहण न करे।

वाणी पर विजय—दूसरों को उद्वेग करनेवाले, अश्लील, परनिन्दा आदि से युक्त शब्दों का उच्चारण करना शास्त्रनिषिद्ध है, अतः ऐसे शब्दों का उच्चारण करना वाणी द्वारा पराजय और न करना वाणी पर विजय प्राप्त करना है। इसका एकमात्र उपाय शास्त्रविहित रीति से स्वाध्याय, स्तोत्र-पाठ करना तथा व्यवहार में सत्य, प्रिय, मधुर और हितकर शब्दों का बोलना ही है। यदि सत्य, मधुर और हितकर वचन से भी किसी को अपनी नासमझी के कारण उद्वेग होता हो तो इसमें वक्ता का दोष नहीं, वक्ता का कर्तव्य तो उतना ही है कि उसे उद्वेग हो इस उद्देश्य से शब्दों का उच्चारण न करे।

हस्त-पाद पर विजय—हाथों से परद्रव्य का अपहरण, परस्त्री-स्पर्श, व्यर्थ ताडन करना तथा पैरों से मद्य, द्यूत और वेश्या के स्थान पर गमन करना शास्त्रनिषिद्ध है, अतः इन्हें करना ही हस्त-पाद से पराजय और न करना इनपर विजय प्राप्त करना है। इसका एकमात्र उपाय शास्त्रविहित द्रव्यों को ही हाथों से ग्रहण करना तथा सन्त-भगवन्त के निवास स्थानों, तीर्थों में और आवश्यक दैनिक कार्यों में ही चलना फिरना।

मन और बुद्धि पर विजय—शास्त्रनिषिद्ध कार्य करने का बुद्धि से निश्चय करना तथा मन से उसे पूरा करने का संकल्प करना ही मन तथा बुद्धि से पराजय और वैसा निश्चय तथा संकल्प न करना मन तथा बुद्धि पर विजय प्राप्त करना है। इसका भी एकमात्र उपाय सदा शास्त्रविहित कार्य करने का निश्चय तथा संकल्प करना ही है।

बुद्धि से शास्त्रनिषिद्ध कार्य न करने का या शास्त्रविहित कार्य करने का निश्चय किये विना तो 'साधक' संज्ञा ही नहीं हो सकती, अतः सभी साधकों की बुद्धि सामान्यरूप से वश में रहती है, इसी लिए लेख के नाम में बुद्धि शब्द न रखकर केवल 'मन और इंद्रियों पर विजय' इतना ही नाम रखा है। इन्द्रियों से पापाचरण करने तथा मन में पापाचरण की इच्छा होने पर भी यदि मनुष्य बुद्धि में ऐसा निश्चय करे कि 'यह कार्य ठीक नहीं' तो उसका अवश्य किसी दिन उद्धार हो जायेगा। यदि बुद्धि से भी उस कार्य को 'अच्छा है' ऐसा निश्चय कर ले तो फिर उद्धार का कोई मार्ग नहीं रह जाता।

मन और इन्द्रियों पर विजय का सार

विस्तारपूर्वक किये गये विचार का सार यह है कि अर्जुन ने पूछा किससे नियुक्त हुआ न चाहता हुआ भी मनुष्य पापाचरण करता है। भगवान् ने उत्तर दिया काम से नियुक्त हुआ। काम (कामना) कर्ता में ही होती है, करण में नहीं; अतः कर्ता (चेतन जीवात्मा) ही काम का मुख्य निवासस्थान सिद्ध होता है मन आदि जड़ करण नहीं। तथापि काम मन, बुद्धि और इंद्रियों के द्वारा ही पुरुष से पापाचरण कराता है, अतः इन पर विजय प्राप्त करनी ही चाहिए। बुद्धि से पाप करने का निश्चय, मन से पाप करने का सङ्कल्प और

इन्द्रियों से पाप का आचरण करना ही इनके द्वारा पुरुष का पराजय तथा न करना इनपर पुरुष की विजय है। ऐसी विजय ही यहाँ प्रश्नोत्तर से प्राप्त होती है, मन, बुद्धि और इन्द्रियों का सर्वथा निरोधरूप विजय यहाँ अभीष्ट नहीं।

मन, बुद्धि और इन्द्रियों से पापाचरणरूप पराजय व्यवहारकाल में ही होती है, निरोधकाल में नहीं, अतः इनपर विजय भी व्यवहारकाल में ही करनी होगी निरोधकाल में नहीं। ऐसी दशा में मन, बुद्धि और इन्द्रियों से पापाचरण न करना ही यहां इनपर विजय प्राप्त करना है। इसका एकमात्र उपाय है कि इनके द्वारा शुभाचरण करना। पापाचरण में प्रवृत्ति का मूल काम और क्रोध हैं, इन्हीं को राग-द्वेष भी कहते हैं। राग-द्वेष के वश में न होने पर जन्म-जन्मान्तर का सुदृढ़ स्वभाव अर्थात् प्रकृति भी अपने अनुसार पापाचरण नहीं करा सकती, यह बात 'स्वभाव का परिवर्तन कैसे हो, इस लेख में सिद्ध की जा चुकी है। ऐसी दशा में राग-द्वेष के वश में न होने पर सामान्य पापाचरण पर विजय प्राप्त की जा सके इसमें तो कहना ही क्या है? लौकिक विषय जन्य सुख के राग को अलौकिक स्वर्ग और मोक्ष सम्बन्धी सुख के राग से तथा लौकिक शत्रु आदि से जन्य दुःख के द्वेष को अलौलिक नरकादि जन्य दुःख के द्वेष से ही जीता जा सकता है। इसका कारण यह है कि उत्कृष्ट सुख-दुःख के राग-द्वेष से ही निकृष्ट सुख-दुःख के राग-द्वेष को जीता जा सकता है। विवेक तो लौकिक राग-द्वेष को काटने की युक्ति बताकर सहायतामात्र करता है, उन्हें काट नहीं सकता।

उक्त अलौकिक सुख-दुःख के राग-द्वेष शास्त्रीय विधि-निषेधों के ज्ञान से तथा उनपर सुदृढ़ अति श्रद्धा रखने से होते हैं। यही कारण है कि गी० ३।३४ श्लोक की व्याख्या में सभी टीकाकारों ने लौकिक राग-द्वेष के वश में न होने का उपाय शास्त्रीय विधि-निषेध-ज्ञान को ही कहा है। अतः शास्त्रीय शुभाचरण करना ही यहाँ मन, बुद्धि और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना है। इसके अतिरिक्त शास्त्रीय विषयों के सेवन में इन्द्रियों को रसानुभूति न होना तथा मन को प्रिय न लगना आदि को विजय प्राप्त करना नहीं कहा जा सकता।

इसका कारण यह है कि चिरकालीन अभ्यस्तता, शारीरिक आवश्यकता, कफादि प्रकृति की अनुकूलता तथा ऐन्द्रियिक तनावरूप कष्ट की न्यूनता आदि कारणों से इन्द्रियों को रसानुभूति का होना तथा मन को प्रिय लगना अनिवार्य है।

यद्यपि मन, बुद्धि और इन्द्रियों को सर्वथा निरुद्ध करने का यहाँ प्रसंग नहीं है, तथापि जो लोग इनके निरोध को ही इनपर विजय मानते हैं, उनको इसके लिए अष्टाङ्गों सहित योगाभ्यास का सहारा लेना चाहिए, क्योंकि केवल लौकिक राग-द्वेष को जीतनेमात्र से उनका सर्वथा निरोध नहीं किया जा सकता, उसके लिए अभ्यास की भी परमावश्यकता है। इसका कारण यह है कि मन की चञ्चलता का सम्यक् निरीक्षण करने पर पता लगता है कि राग-द्वेष के कारण जितनी वृत्तियां उठती हैं, उनकी अपेक्षा बहुत अधिक ऐसी वृत्तियां उठती हैं जिनका राग-द्वेष से कोई सम्बन्ध नहीं। ऐसी दशा में राग-द्वेष विरोधी वैराग्यमात्र से इन वृत्तियों का सर्वथा निरोध नहीं हो सकता। इनके निरोध के लिए तो दीर्घकालपर्यन्त श्रद्धापूर्वक अभ्यास ही करना होगा। इसी लिए योगसूत्र १।१२ में 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' तथा गीता ६।३५ में भी 'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।' वैराग्य के साथ अभ्यास को भी निरोध का साधन कहा गया है। किसी व्यक्तिविशेष के वर्तमान जीवन में यदि योगाभ्यास के बिना ही वृत्तियों का निरोध (समाधि) देखने में आती हो तो ऐसा जानना चाहिए कि पूर्वजन्मों में इसने योगाभ्यास किया था, क्योंकि दीर्घकालपर्यन्त श्रद्धापूर्वक निरन्तर अभ्यास किये बिना चित्तनिरोध की भूमि दृढ़ नहीं होती—'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः' (योगसू० १।१४)। जो लोग दीर्घकालपर्यन्त श्रद्धापूर्वक अभ्यास तो करते हैं, किन्तु 'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि' इन योग के अंगों की उपेक्षा करते हैं, उनको भी सफलता नहीं मिलती, अतः योगाङ्गों सहित ही योगाभ्यास द्वारा चित्तनिरोध हो सकता है, अन्यथा नहीं।

पुरुषार्थ प्रबल या प्रारब्ध

मन, बुद्धि और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने जैसा चाहे कठिन कार्य हो या जल पीने जैसा सरल कार्य हो 'पुरुषार्थ प्रबल या प्रारब्ध' इसका निर्णय करना अत्यावश्यक है, क्योंकि यदि प्रारब्ध की अपेक्षा पुरुषार्थ प्रबल हो तभी पुरुषार्थ करना सार्थक सिद्ध होगा, अन्यथा नहीं। 'पुरुषार्थ प्रबल या प्रारब्ध' ऐसा सन्देह होने का कारण यह है कि कभी-कभी भरपूर पुरुषार्थ करने पर भी छोटा सा काम पूरा नहीं होता एवं कभी-कभी कुछ भी पुरुषार्थ न करने पर भी बड़ा भारी काम भी पूरा हो जाता है, ऐसा सभी लोग अपने जीवन में अनुभव करते हैं।

शास्त्रों में भी दोनों प्रकार के वचन पाये जाते हैं। देखिये—

'स्वमेव कर्म दैवाख्यं विद्धि देहान्तरार्जितम्।
तस्मात् पौरुषमेवेह श्रेष्ठं प्राहुर्मनीषिणः॥'

(अग्निपु० २२।१)

'न तस्य कश्चित् तपसा विद्यया वा
न योगवीर्येण मनीषया वा।
नैवार्थधर्मैः परतः स्वतो वा
कृतं विहन्तुं तनुभृद् विभूयात्॥'

(भाग० ५।१।१२)

अर्थ—पूर्व जन्मों में देहान्तरों से किये गये अपने कर्म को ही प्रारब्ध जानो, इसलिए बुद्धिमान् इस संसार में पुरुषार्थ को ही श्रेष्ठ कहते हैं। उस किये हुए को (कर्म को) तप, विद्या, योगबल, बुद्धि, अर्थ और धर्म द्वारा स्वतः या परतः कोई भी देहधारी मिटाने में समर्थ नहीं हो सकता।

'कह मुनीश हिमवंत सुनु जो विधि लिखा लिलार।
देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेटनहार॥'

(रा०मा० बालकाण्ड ६८)

उक्त सन्देह का समायान शास्त्र के निम्नलिखित बचनों पर गंभीर विचार करने से हो जाता है—

'दैवे पुरुषकारे च लोकोऽयं सम्प्रतिष्ठितः ।
तत्र दैवं तु विधिना काल्युक्तेन लभ्यते ॥'

(महा० भा० आदि० १२२।२१)

'सर्वं कर्मेदमायत्तं विधाने दैवपौरुषे ।
तयोर्दैवमचिन्त्यं हि पौरुषे विद्यते क्रिया ॥'

(अग्निपु० २२५।३३)

'स्वमेव कर्म दैवाख्यं विद्धि देहान्तरार्जितम् ।
तस्मात् पौरुषमेवेह श्रेष्ठं प्राहुर्मनीषिणः ॥
प्रतिकूलं यथा दैवं पौरुषेण विहन्यते ।
सात्त्विकात् कर्मणः पूर्वात् सिद्धिः स्यात् पौरुषं विना ॥
पौरुषं दैवसम्पत्त्या काले फलति भार्गव ।
दैवं पुरुषकारश्च द्वयं पुंसः फलावहम् ॥'

(अग्निपु० २२६।१-३)

अर्थ—प्रारब्ध और पुरुषार्थ के आधार पर यह लोक प्रतिष्ठित है। उनमें दैव=प्रारब्ध की प्राप्ति (अभिव्यक्ति) समयानुसार विधिपूर्वक किये गये कर्म से होती है। प्रारब्ध और पुरुषार्थ विधान के अधीन ये सभी कर्म हैं। उन दोनों में से प्रारब्ध तो अचिन्त्य है (अर्थात् प्रारब्ध फलवलकल्प्य होने कारण प्रथम उसे जानना तो निश्चय ही कठिन है), अतः पुरुषार्थ में ही क्रिया हो सकती है। देहान्तर द्वारा किया गया अपना कर्म ही प्रारब्ध नाम से कहा जाता है, ऐसा जानो, इसलिए बुद्धिमान् इस संसार में पुरुषार्थ को ही श्रेष्ठ कहते हैं। जिस प्रकार प्रतिकूल प्रारब्ध पुरुषार्थ से विनष्ट हो जाता है, उसी प्रकार पूर्व के सात्त्विक शुभ कर्मों से अर्थात् शुभ प्रारब्ध से पुरुषार्थ के बिना ही कार्यसिद्धि हो जाती है। प्रारब्ध और पुरुषार्थ दोनों ही मिलकर पुरुष को फल देनेवाले हैं। पुरुषार्थ प्रारब्ध के सहयोग से समय पर फल देता है।

इन श्लोकों के भावार्थ पर विस्तार से गंभीर विचार करना चाहिए।

शङ्का—इन श्लोकों में सभी कार्यों की सिद्धि दोनों के अधीन बताई है, यह अनुभवविरुद्ध है, क्योंकि एक संन्यासी कुछ भी पुरुषार्थ नहीं करता, केवल प्रारब्ध से प्राप्त भोजन से ही उसका उदर भर जाता है। यदि कहें कि भोजन हाथ से उठाना, चबाना, निगलना आदि पुरुषार्थ के सहयोग से ही उदर भरता है, केवल प्रारब्ध से नहीं। यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि ५-१० दिन के बालक के रोग की निवृत्तिरूप कार्यसिद्धि में बालक द्वारा दवा निगलना आदि पुरुषार्थ का भी सहयोग नहीं दिखाया जा सकता, क्योंकि दवा भी माता ही खाती है, बालक नहीं। अतः 'सभी कार्यों की सिद्धि दोनों के अधीन है' यह नियम ठीक नहीं। उक्त श्लोकों के वचनों में परस्पर विरोध भी है, क्योंकि आगे के श्लोक में कहा है कि 'पूर्व के सात्त्विक कर्मों से अर्थात् शुभ प्रारब्ध से पुरुषार्थ के बिना ही कार्य की सिद्धि हो जाती है।'

समाधान—कुछ विद्वानों का कहना है कि 'जिसके लिए जितना प्रयत्न करना शास्त्रविहित है तथा संभव है, उसके द्वारा उतना प्रयत्न करना ही पुरुषार्थ करना कहलाता है।' बालक भी रोदन आदि द्वारा अपना दुःख प्रकट करने का पुरुषार्थ करता ही है। ५-१० दिन के बालक से इतना होना ही संभव है, अतः यही उसके लिए पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ का ऊपर लिखा स्वरूप स्वीकार न किया जाये तो कहीं भी पुरुषार्थ चरितार्थ न हो सकेगा। देखिये—

एक व्यक्ति ने अपनी कमाई के दो रुपये देकर एक गिलास मीठा दूध पीया—यहाँ गाय चराने, दुहने, दूध गरम करने में और खेत जोतने, गन्ना बोने, काटने, पेरने, रस निकालने, चीनी बनाने में तथा इनमें उपयुक्त होने-वाले हथियारों, मशीनों तथा मसालों के बनाने में एवं उपादानों को खानों से निकालने आदि कार्यों में दूध पीनेवाले ने कोई पुरुषार्थ नहीं किया, तो भी ऐसा नहीं माना जाता कि उसको पुरुषार्थ के बिना ही दूध पीने को मुफ्त में केवल प्रारब्ध से मिल गया है। यदि कहा जाये कि उक्त सभी कार्यों के बदले उसने अपनी कमाई के दो रुपये तो दिये हैं, यहीं पुरुषार्थ करना उसके लिए वहाँ विहित तथा संभव है, इसके अतिरिक्त ऊपर लिखे सभी कार्यों का करना किसी

भी एक व्यक्ति से संभव नहीं, अतः उन सब को वहाँ पुरुषार्थ में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। आप का दिया यह समाधान बालक के रुदन में भी समान होने से शङ्का का समाधान स्वयं हो जाता है।

'पूर्व के सात्त्विक कर्मों से अर्थात् शुभ प्रारब्ध से पुरुषार्थ के बिना ही कार्य की सिद्धि हो जाती है' ऐसा जो श्लोक में कहा है उसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि 'विशेष पुरुषार्थ के बिना ही कार्यसिद्धि हो जाती है' 'यत् किञ्चित् पुरुषार्थ की भी आवश्यकता नहीं' इसमें तात्पर्य नहीं, अतः श्लोकों के वचनों में परस्पर विरोध भी नहीं है।

वास्तविक बात तो यह है कि अदृष्ट=प्रारब्ध दृष्ट=पुरुषार्थ को माध्यम बना कर ही कार्यसिद्धि करता है। इसी लिए श्लोकों में कहा है कि 'तत्र दैवं तु विधिना कालयुक्तेन लभ्यते' अर्थात् उचित समय पर किये गये पुरुषार्थ से ही प्रारब्ध की प्राप्ति (अभिव्यक्ति) होती है। माध्यमरूप पुरुषार्थ चाहे वह व्यक्ति स्वयं करे या उसके प्रारब्धानुसार प्राप्त संरक्षक पुरुषार्थ करें। यही कारण है कि रोने या पुकारने के रूप में भी किञ्चित् भी पुरुषार्थ न करनेवाले आनन्दपूर्वक सोते या खेलते बालक की तरफ जाते हुए हानिकर प्राणियों को हटाकर या बालक को उठाकर रक्षा करने पर भी लोक में यही कहा जाता है कि पुरुषार्थ से बालक की रक्षा हो गई।

यदि कहा जाये कि तब तो सर्वत्र पुरुषार्थ ही कार्यसिद्धि में हेतु सिद्ध होता है; प्रारब्ध की कल्पना करना व्यर्थ है। यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि एक बार नहीं किन्तु अनेकों बार ऐसे अवसर आते हैं कि भरपूर पुरुषार्थ करने पर भी बालक की रक्षा नहीं कर पाते, ऐसी दशा में बालक के प्रारब्ध को भी रक्षा में हेतु मानना अनिवार्य है। यही कारण है कि लोक में भी ऐसे अवसरों पर यही कहा जाता है कि बालक का प्रारब्ध ही ऐसा था जिसके कारण कोई भी उसकी रक्षा न कर सका। इसी लिए 'पौरुषं दैवसम्पत्त्या काले फलति भार्गव।' अर्थात् प्रारब्ध की सहायता से पुरुषार्थ समय पर फल देता है ऐसा श्लोकों में कहा है।

इस प्रकार गम्भीर विचार करने पर 'सभी कर्मों की सिद्धि पुरुषार्थ और प्रारब्ध के अधीन है' ऐसा जो श्लोकों में कहा है वह अक्षरशः ठीक ही है। इस पक्ष में 'पूर्व के सात्त्विक कर्मों से अर्थात् शुभ प्रारब्ध से पुरुषार्थ के विना ही कार्य की सिद्धि हो जाती है' इस कथन की सङ्गति यह है कि उसके (बालक आदि के) द्वारा स्वयं किञ्चित् भी पुरुषार्थ किये बिना ही रक्षा आदि कार्य की सिद्धि हो जाती है। यहाँ संरक्षकों के पुरुषार्थ के बिना भी केवल प्रारब्ध से रक्षा आदि कार्य की सिद्धि हो जाती है, ऐसा अर्थ अभीष्ट नहीं। इस प्रकार इस पक्ष में भी श्लोकों में परस्पर विरोध नहीं आता।

कुछ लोगों का कहना है कि ठीक समय पर संरक्षकों की प्राप्ति बालक के शुभ प्रारब्ध से ही होती है और शुभ प्रारब्ध उसी बालक द्वारा देहान्तर में किये गये पुरुषार्थ का ही रूपान्तर है, अतः संरक्षकों द्वारा किया गया पुरुषार्थ भी बालक का ही पुरुषार्थ है, इसलिए 'उसी व्यक्ति का प्रारब्ध और पुरुषार्थ दोनों मिलकर कार्य की सिद्धि करते हैं' ऐसा नियम मानने में भी कोई दोष नहीं, यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि प्रारब्ध को भी पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार कर लेने पर प्रारब्ध नाम की कोई चीज ही नहीं रह जायेगी। ऐसी दशा में प्रारब्ध और पुरुषार्थ इन दो शब्दों का प्रयोग करना तथा इन दोनों से कार्य की सिद्धि होती है ऐसा कहना न बन सकेगा। तब तो केवल यही कहना ठीक होगा कि सभी कर्मों की सिद्धि केवल पुरुषार्थ से ही होती है।

'कार्य की सिद्धि में आवश्यक सभी पुरुषार्थ उसी एक व्यक्ति द्वारा ही किये जाने चाहिए' ऐसा आग्रह करने पर महान् कार्यों की बात तो बहुत दूर की बात है, छोटे से छोटे कार्य की सिद्धि भी एक व्यक्ति कभी भी न कर सकेगा। एक गिलास मीठा दूध पीने जैसे छोटे से कार्य मे अपेक्षित पूर्वप्रदर्शित आवश्यक सभी पुरुषार्थ क्या कभी उसी एक व्यक्ति द्वारा किये जाने सम्भव हैं? कदापि नहीं। शत्रु-प्रहारजन्य दुःखरूप कार्य भोक्ता के ही पुरुषार्थ का दिखाना तो सम्भव ही नहीं, क्योंकि दुःख के लिए पुरुषार्थ कोई नहीं करता।

यदि कहें कि प्रारब्ध देहान्तर में किये गये अपने पुरुषार्थ का ही रूपान्तर है' ऐसा तो 'स्वमेव कर्म दैवाख्यं विद्धि देहान्तरार्जितम्' इस पूर्वलिखित

श्लोकार्ध में स्पष्ट कहा ही है, फिर उसका खण्डन क्यों करते हो ? इसका उत्तर यह है कि इस श्लोकार्ध का प्रारब्ध और पुरुषार्थ को एक बताने में तात्पर्य नहीं, किन्तु पुरुषार्थ की श्रेष्ठता बताने में तात्पर्य है। इसका कारण भी वहीं स्पष्ट कर दिया है कि 'तयोर्दैवमचिन्त्यं हि पौरुषे विद्यते क्रिया' अर्थात् प्रारब्ध और पुरुषार्थ इन दोनों में से प्रारब्ध अचिन्त्य अदृष्ट हैं, इसलिए उस पर कोई क्रिया नहीं हो सकती, पुरुषार्थ दृष्ट होने के कारण उसी में क्रिया हो सकती है। इसके अतिरिक्त पुरुषार्थ को श्रेष्ठ कह कर प्रशंसा करने पर मनुष्य इस जन्म में खूब पुरुषार्थ करेगा जिससे अगले जन्मों के लिए उसका प्रारब्ध भी अच्छा बन जायेगा। प्रारब्ध को अचिन्त्य=अदृष्ट कहने का तात्पर्य यह है कि भरपूर पुरुषार्थ कर लेने पर भी जब कार्य की सिद्धि नहीं होती तब कार्य की असिद्धिरूप फल के बल पर प्रारब्ध की सिद्धि होती है, प्रथम नहीं, इसीलिए प्रारब्ध को फलबलकल्प्य कहा जाता है।

इस प्रकार सम्भावित शङ्काओं का समाधान कर देने से तथा श्रुति, स्मृति, युक्ति और अनुभूति से समर्थित होने के कारण 'सभी कर्मों की सिद्धि पुरुषार्थ और प्रारब्ध के अधीन है' यह पूर्वोक्त सिद्धान्त ही सत्य सिद्धान्त है। अतः जो लोग केवल पुरुषार्थ को या केवल प्रारब्ध को सर्वकार्यसिद्धि में हेतु मानते हैं, उनका सिद्धान्त श्रुति, स्मृति और युक्ति से समर्थित न होने के कारण सत्य सिद्धान्त नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, किन्तु उनका सिद्धान्त महान् हानिकर भी है। देखिये—

जो लोग केवल पुरुषार्थ को ही सब कार्यों की सिद्धि में हेतु मानते हैं, उनको यदि १०–२०–५० स्थलों में लगातार सफलता ही मिलती चली जाये तो वे लोग महान् अभिमानरूप दोष से ग्रस्त हो जाते हैं, जिससे सफलता न मिलनेवालों का अति अपमान करते हुए आलसी, मक्कार, देश के भार आदि कटु प्रहार द्वारा तिरस्कार करते हैं। यदि उन्हें १०–२०–५० स्थलों पर लगातार असफलता ही मिलती चली जाये तो आत्महत्या कर लेने के सिवाय उनके सामने दूसरा उपाय ही नहीं रह जाता। इस प्रकार केवल पुरुषार्थवाद महान् हानिकर है।

इसी प्रकार जो लोग केवल प्रारब्ध को ही सब कार्यों की सिद्धि में हेतु मानते हैं, उन लोगों का उचित पुरुषार्थ के अभाव से परलोक तो सर्वथा विनष्ट हो ही जाता है। इतना ही नहीं, किन्तु अदृष्ट प्रारब्ध की अभिव्यक्ति करानेवाले दृष्ट पुरुषार्थ को न करने के कारण प्रारब्ध भी फल नहीं देता। इसका परिणाम यह होता है कि उनको इस लोक में जीवननिर्वाहक भोजनादि पदार्थों की भी समुचित प्राप्ति न होने के कारण यह लोक भी नष्ट हो जाता है। इस प्रकार केवल प्रारब्धवाद भी महान् हानिकर है।

प्रारब्ध और पुरुषार्थ दोनों को सब कार्यों की सिद्धि में हेतु माननेवाले शास्त्रीय सिद्धान्तवालों को भरपूर पुरुषार्थ कर लेने पर भी एक बार नहीं अनेकों बार लगातार जब असफलता प्राप्त होती है, तब 'प्रारब्ध भी कार्यसिद्धि में हेतु होता है, इस समय प्रारब्ध अनुकूल नहीं, इसलिए कार्यसिद्धि नहीं हुई' इस सत्य सिद्धान्त के सहारे आत्महत्या जैसा लोक–परलोकनाशक महान् पाप करने से वे बच जाते हैं। एवं जब लगातार अनेकों बार सफलता प्राप्त होती है, तब महान् अभिमान से ग्रस्त होकर सफल न होनेवालों का अपमान नहीं करते। इस प्रकार स्व-अभिमान, पर-अपमान तथा स्वात्महत्या जैसे महान् हानिकर दोषों की खान होने के कारण भी केवल पुरुषार्थवाद तथा केवल प्रारब्धवाद सर्वथा त्याज्य हैं।

शङ्का—इस प्रकार विस्तार से किये गये गम्भीर विचार द्वारा 'प्रारब्ध और पुरुषार्थ दोनों ही कार्यसिद्धि में हेतु हैं' यह सिद्ध हो जाने पर भी इन दोनों में से 'पुरुषार्थ प्रबल है या प्रारब्ध' इस मुख्य सन्देह का समाधान तो हुआ ही नहीं, अतः इसी का स्पष्ट समाधान कीजिए।

समाधान—पारलौकिक (स्वर्ग तथा मोक्ष) सुख के साधनों के सम्पादन में पुरुषार्थ प्रबल अर्थात् प्रधान है और प्रारब्ध गौण अर्थात् सहायक है एवं लौकिक सुख के साधन धन, मकान आदि के सम्पादन में प्रारब्ध प्रबल अर्थात् प्रधान है और पुरुषार्थ गौण अर्थात् सहायक है। इन दोनों को स्पष्ट समझाने का प्रयास किया जाता है। देखिये—

सच्चे हृदय से समान पुरुषार्थ करनेवाले दो साधक हैं। उनमें से एक का उसके शुभप्रारब्धानुसार भजन, ध्यान आदि सात्त्विक साधनों से सम्पन्न माता-पिता से जन्म हुआ, श्रद्धा, रुचि, योग्यता आदि का सम्यक् निदान करके साधन का विधान करनेवाले सन्त महापुरुष का सत्संग अनायास प्राप्त हुआ; हरिद्वार, मथुरा, काशी आदि मोक्षदायिनी पुरियों में निवास-स्थान बना तथा गंगा, यमुना, सरयू आदि पापताप-नाशिनी नदियों के पावन जल का पान, स्नान, भोजन आदि में उपयोग करने को मिला, दूसरे को नहीं मिला। शुभ प्रारब्धानुसार प्राप्त इन सहायक साधनों के कारण दूसरे की अपेक्षा पहला साधक अधिक उन्नति कर लेता है।

इतना ही नहीं, किन्तु कभी कभी बाधक अशुभ प्रारब्ध के कारण तीव्र पुरुषार्थ करनेवाले तीव्र तपस्वी अपने तीव्र नियमों को छोड़कर काम और क्रोध से ग्रस्त होकर साधनभ्रष्ट हो जाते हैं, यह बात बाल्मीकिरामायण में तथा भागवत में अति स्पष्ट शब्दों से कही है—

'मुनयः तीव्रतपसा दैवेनाभिचोदिताः।
उत्सृज्य नियमान् तीव्रान् भ्रश्यन्ते काममन्युभिः॥'

(वा०रा०)

'मृगदारकाभासेन स्वारब्धकर्मणा योगारम्भणतो विभ्रंशितः।

(भाग० ५।८।२६)

अर्थ—तीव्र तपस्या करनेवाले मुनि भी दैव अर्थात् प्रारब्ध से प्रेरित काम तथा क्रोध से भ्रष्ट हो जाते हैं, अपने तीव्र नियमों को छोड़ देते हैं।

(राजा भरत) मृगबालक के रूप में आये अपने प्रारब्ध कर्म द्वारा योग-साधना से भ्रष्ट हो गये।

उक्त शास्त्रीय वचन-उदाहरण तथा प्रत्यक्ष अनुभूतिमूलक युक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि पुरुषार्थप्रधान पारलौकिक कल्याण साधना में भी शुभ और अशुभ प्रारब्ध साधक और बाधक होता है।

लौकिक सुख के साधन धन, मकान, भोजनादि की प्राप्ति के लिए समान ही नहीं किन्तु दो व्यक्तियों में से पहला व्यक्ति बहुत अधिक पुरुषार्थ करता

है तो दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा बहुत कम सफलता प्राप्त कर पाता है। ऐसी दशा में बाध्य होकर सभी को यह मानना ही पड़ता है कि धन आदि की प्राप्ति में प्रारब्ध प्रधान और पुरुषार्थ गौण=सहायक होता है।

शङ्का—वाल्मीकिरामायण तथा भागवत के उद्धृत किये गये वचनों से तो 'पारलौकिक-कल्याणसाधन-सम्पादन में पुरुषार्थ प्रधान है' और 'काम, क्रोध, मोह आदि दोष अविवेकमूलक ही होते हैं' ये दोनों नियम भंग हो जाते हैं। ऐसी दशा में पारलौकिक-कल्याणसाधन-सम्पादन में तथा विवेकसम्पादन द्वारा काम आदि के निवारण में पुरुष सन्देहरहित होकर पुरुषार्थ कैसे करेगा?

समाधान—मानव-बुद्धिगम्य कार्य-कारण आदि के नियमों से परे भी कोई अचिन्त्य शक्ति है, उस अचिन्त्य शक्ति का अस्तित्व स्वीकार कराने के लिए अचिन्त्य शक्तिमान् भगवान् ने पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड की ऐसी अति विचित्र रचना की है कि जिसका चिन्तन महामनीषी लोग मन से भी नहीं कर सकते। इसलिए सभी नियम ९८-९९ प्रतिशत सही होने पर ही सही मान लिये जाते हैं। जिन एक दो स्थलों पर नियम लागू नहीं होता है, उन स्थलों को नियम के अपवाद स्थल ही कहा जाता है, व्यभिचार स्थल नहीं। ऐसा मानने के अतिरिक्त कोई अन्य गति न होने के कारण लौकिक तथा अलौकिक सभी दर्शनों में उसे स्वीकार किया गया है।

जैसे 'सभी रोग कुपथ्यसेवनजन्य कफ आदि धातुओं के वैषम्य से उत्पन्न होते हैं, अतः सुपथ्यसेवनजन्य कफ आदि धातुओं के साम्य से शान्त हो जाते हैं' ऐसा नियम आयुर्वेद को मान्य है, परन्तु प्रारब्धजन्य रोग में उक्त नियम लागू नहीं होता, इस एक स्थल पर नियम का अपवाद होनेमात्र से ९९ प्रतिशत सत्य नियम के प्रति न तो किसी की उपेक्षा ही होती है और न सन्देहरहित होकर पुरुषार्थ करने में बाधा होती है। यदि कोई उपेक्षा करके चिकित्सा नहीं करता तो उसे महामूर्ख ही माना जाता है। वैसे ही 'पारलौकिक कल्याण के साधन के सम्पादन में पुरुषार्थप्रधान है' 'काम, क्रोधादि दोष अविवेकमूलक ही होते हैं' इन दोनों नियमों का अति प्रबल प्रारब्ध स्थल पर अपवाद होनेमात्र से ९९ प्रतिशत सत्य उक्त दोनों

नियमों की उपेक्षा न करके बुद्धिमान् मनुष्य तो सन्देहरहित होकर पुरुषार्थ करते ही हैं, यदि कोई उपेक्षा करके पुरुषार्थ नहीं करता तो बुद्धिमान् उसे महाबुद्धिमान् (मूर्ख) ही कहते हैं ।

एक दो स्थलों में अपवाद होने पर सन्देहरहित पुरुषार्थ करने की तो बात ही क्या, कृषि आदि कार्यों में २५ प्रतिशत असफलता का स्वयं अनुभव करके भी ७५ प्रतिशत सफलता के आधार पर सन्देहरहित होकर पुरुष पुरुषार्थ करते हैं । कृषि में असफलता मिलने पर तो पुरुष का पुरुषार्थ सर्वथा ही व्यर्थ चला जाता है । इतना ही नहीं, किन्तु मूलधन (बीज) भी विनष्ट हो जाता है, तब भी बुद्धिमान् पुरुष सन्देहरहित होकर पुरुषार्थ करते ही हैं । पारलौकिक कल्याण के साधन के सम्पादन में वर्तमान जन्म में असफलता मिलने पर न तो पुरुष का पुरुषार्थ ही व्यर्थ जाता है और न साधनसंस्काररूप बीज ही विनष्ट होता है । यह बात भगवान् ने स्पष्ट कही है—

'पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
नहि कल्याणकृत् कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥'

(गी० ६।४०)

'तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्'

(गी० ६।४३)

अर्थ—हे पार्थ ! उस पुरुष का न तो इस लोक में ही विनाश होता है और न परलोक में ही विनाश होता है, क्योंकि हे प्यारे ! कल्याण-साधन करनेवाला कोई भी पुरुष दुर्गति को प्राप्त नहीं होता । वहाँ उस पहले शरीर में किये हुए बुद्धियोग (कल्याण-साधनसंस्कार) को प्राप्त कर लेता है ।

भगवान् के इस आश्वासन से तथा उक्त कृषि के दृष्टान्त से महाबुद्धिमानों को छोड़कर बुद्धिमानों की तो सन्देहरहित प्रवृत्ति पुरुषार्थ में होगी ही !

शङ्का—'न तस्य कश्चित् तरसा विद्यया वा ।'

(भाग० ५।१।१२)

'नाभिजात्यं न चारित्र्यं न नयो न च विक्रमः।
बलवन्ति पुराणानि सखे कर्माणि केवलम् ॥'

(योगवा० नि० पू० १२७।३९)

'सर्वज्ञोऽपि बहुज्ञोऽपि माधवोऽपि हरोऽपि वा।
अन्यथा नियतिं कर्तुं न शक्तः कश्चिदेव हि ॥'

(योगवा० उपशमप्र० ८९।२६)

'प्रतिकूलं यथा दैवं पौरुषेण विहन्यते।'

(अग्निपु० २२६।२)

'जो तप करै कुमारि तुम्हारी।
भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी ॥'

(रा०मा० बालकांड ७०)

अर्थ—(१) उसको (प्रारब्ध को) तपस्या तथा विद्या से कोई (मेट नहीं सकता)। हे सखा ! उत्तम कुल में उत्पत्ति, चरित्र, नीति और पुरुषार्थ ये सब बलवान नहीं, किन्तु केवल पुराने कर्म अर्थात् प्रारब्ध ही बलवान् है। सर्वज्ञ, बहुज्ञ, विष्णुजी या शंकरजी भी प्रारब्ध को अन्यथा करने में समर्थ नहीं।

(२) प्रतिकूल दैव अर्थात् प्रारब्ध पुरुषार्थ से नष्ट हो जाता है। आपकी कन्या यदि तपस्या करे तो शंकरजी प्रारब्ध को मिटा सकते हैं।

यहाँ शास्त्रों के प्रथम वचनों में प्रारब्ध को प्रबल और शंकरजी भी उसे नहीं मिटा सकते, ऐसा कहा है तथा द्वितीय वचनों में पुरुषार्थ को प्रबल और शंकरजी प्रारब्ध को मिटा सकते हैं, ऐसा कहा है। इन विरोधी वचनों की संगति क्या है ?

समाधान—मन्द, मध्य, तीव्रतम भेद से प्रारब्ध और पुरुषार्थ दोनों ही तीन तीन प्रकार के होते हैं। इनमें से मन्द और मध्यम प्रारब्ध का तो तीव्रतम पुरुषार्थ द्वारा या शंकरजी द्वारा विनाश किया जा सकता है, किन्तु तीव्रतम प्रारब्ध अनिवार्य होने के कारण उसका विनाश शंकरजी भी नहीं करते। एवं मन्द, मध्यम पुरुषार्थ को तीव्रतम प्रारब्ध नष्ट कर देता है, किन्तु तीव्रतम पुरुषार्थ को मन्द, मध्यम प्रारब्ध नष्ट नहीं कर सकता। कहने का

तात्पर्य यह है कि प्रारब्ध और पुरुषार्थ इन दोनों में से जो तीव्रतम होगा वह मन्द, मध्यम को दबा देगा, अतः कहीं प्रारब्ध को प्रबल और पुरुषार्थ को निर्बल कहना तथा कहीं पुरुषार्थ को प्रबल और प्रारब्ध को निर्बल कहना दोनों ही संगत हैं। यदि कहें कि तीव्रतम प्रारब्ध को सर्वसमर्थ शंकर और विष्णु भगवान् भी नहीं मिटा सकते तो उन्हें सर्वसमर्थ भगवान् कैसे कहा जाता है। इसका उत्तर यह है कि तीव्रतम प्रारब्ध के न मिटने का नियम भी भगवान् ने ही बनाया है, अपने बनाये नियम को न मिटाकर उसका पालन करना असमर्थता का लक्षण नहीं माना जाता, किन्तु मर्यादा-संरक्षण का ही लक्षण माना जाता है।

सारांश—श्रुति, स्मृति, प्रत्यक्ष अनुभूति तथा तन्मूलक युक्ति से यही सिद्ध होता है कि 'सभी कार्यों की सिद्धि में प्रारब्ध और पुरुषार्थ दोनों हेतु होते हैं। पुरुषार्थ वही पुरुष करे अथवा उसके प्रारब्धानुसार उसके संरक्षक या भक्षक करें। पारलौकिक कल्याण-साधन के सम्पादन में पुरुषार्थ प्रधान और प्रारब्ध सहायक होता है तथा लौकिक सुख-साधन धन, मकान, भोजन आदि के सम्पादन में प्रारब्ध प्रधान और पुरुषार्थ सहायक होता है। प्रारब्ध और पुरुषार्थ में जो तीव्रतम होता है वह प्रबल और दूसरा निर्बल हो जाता है, इसी लिए शास्त्रों में दोनों को प्रबल और निर्बल कहा है। भगवान् द्वारा भी तीव्रतम प्रारब्ध का विनाश न किया जाना, असमर्थ होने के कारण नहीं, किन्तु स्वकृतमर्यादा-संरक्षण के कारण है।

साधन-विभाजन-विज्ञान

यद्यपि पारलौकिक (स्वर्ग और मोक्ष) साधन के सम्पादन में पुरुषार्थ प्रधान है, तथापि जब तक साधक की श्रद्धा, रुचि तथा योग्यता का सम्यक् निदान करके तदनुरूप साधन का विधान न किया जाये तब तक पूर्ण पुरुषार्थ करने पर भी पूर्ण लाभ नहीं होता। देखिये श्रीकाकभुशुण्डिजी ब्राह्मण-शरीर से तत्त्वज्ञ लोमश ऋषि के पास गये। लोमश ऋषि ने उनकी रुचि के अनुकूल सगुण भगवान् राम की उपासना न बताकर जब तक निर्गुण ब्रह्म का उपदेश दिया, कोई लाभ नहीं हुआ, इतना ही नहीं किन्तु शापाशापी हो गई। जब उनकी रुचि के अनुकूल भगवान् राम के बालकरूप का ध्यानरूप साधन बताया तब तुरन्त विशेष लाभ हो गया। 'बालकरूप राम कर ध्याना। कहेउ मोहि मुनि कृपा निधाना ।। सुन्दर सुखद मोहि अति भावा।'

श्रीकाकभुशुण्डिजी के हृदय में निर्गुण ब्रह्म के प्रति श्रद्धा न हो या उसे साक्षात्कार करने की योग्यता न हो ऐसी बात नहीं थी, क्योंकि वे स्वयं कहते हैं कि 'भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहउँ निर्गुन उपदेसा ।।' तो भी उनके हृदय में सगुण भगवान् राम के दर्शन की रुचि अति तीव्र थी—

'राम भगति जल मम मन मीना। किमि बिलगाइ मुनीश प्रवीना ।।
सोइ उपदेश कहहु करि दाया। निज नयनन्हि देखौं रघुराया ।।'

इस प्रकार श्रद्धा तथा योग्यता के नहीं किन्तु केवल रुचि के अनुरूप साधन का विधान न होनेमात्र से सफलता नहीं मिली। ऐसी दशा में जो पथ-प्रदर्शक साधक की श्रद्धा, रुचि तथा योग्यता इन तीनों की उपेक्षा करके अपनी इच्छा के अनुसार या अपने सम्प्रदायानुसार साधन का विधान करते हैं, उनसे लाभ नहीं होता। योग्यता के अनुरूप न होने के कारण साधन कर नहीं पाते, रुचि के अनुरूप न होने के कारण मन नहीं लगता तथा श्रद्धा के अनुरूप न होने के कारण सफलता नहीं मिलती।

साधक की योग्यता के अनुरूप साधन का विधान किया जाये तो साधन कर न सके यह हो ही नहीं सकता, रुचि के अनुरूप होने पर मन न लगे ऐसा भी नहीं हो सकता तथा श्रद्धा के अनुकूल होने पर सफलता न मिले यह भी नहीं हो सकता। अतः इन तीनों का सम्यक् निदान करके ही साधन का विधान करना चाहिए। इनमें से एक की भी उपेक्षा कर देने से सफलता में बाधा हो जाती है।

देखिये—किसी साधक को 'गङ्गा-स्नान कल्याणकारी है, ऐसी श्रद्धा है और 'नित्य गङ्गास्नान करूँ' ऐसी रुचि भी है, किन्तु 'योग्यता' नहीं, एक दिन भी स्नान कर लेने पर बीमार हो जाता है, ऐसे साधक को गङ्गा-स्नान-रूप साधन का विधान किया जायेगा तो केवल योग्यता के अनुरूप न होने के कारण कर नहीं पायेगा। जिस साधक में गङ्गा-स्नान की योग्यता है तथा श्रद्धा भी है, किन्तु रुचि एकान्त में रह कर ध्यान करने की है, गङ्गा-स्नान में रुचि नहीं, ऐसे साधक को भी यदि गङ्गास्नानरूप साधन का विधान किया जायेगा तो केवल रुचि के अनुकूल न होने के कारण जब उसके हृदय में गङ्गास्नान का संकल्प ही नहीं बनेगा तब स्नान कैसे करेगा एवं जिस साधक में चैत्र मास में गङ्गास्नान की योग्यता है तथा शीतल जल से शरीर का ताप दूर होने के कारण गङ्गा-स्नान की रुचि भी है, किन्तु श्रद्धा एकान्त में बैठकर नाम-जप करने में है गङ्गा-स्नान में श्रद्धा नहीं। ऐसे साधक के लिए भी गङ्गा-स्नानरूप साधन का विधान कल्याणकारी न होगा, क्योंकि श्रद्धा न होने के कारण गङ्गा-स्नान करना तो दूर रहा, गङ्गास्नान का संकल्प ही नहीं करेगा।

इस प्रकार सूक्ष्मता से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि साधन का विधान साधक की श्रद्धा, रुचि तथा योग्यता इन तीनों का सम्यक् निदान करके ही करना चाहिए। तभी सफलता प्रदान करनेवाला होता है, अन्यथा नहीं। वर्तमान साधन करनेवाले सच्चे साधकों का जितना अभाव है उससे अधिक अभाव श्रद्धा, रुचि, योग्यता का सम्यक् निदान करके साधन का विधान करनेवाले महान् पुरुषों का है। वृन्दावन जाइये, आप को वहाँ के प्रायः सभी महात्मा कृष्ण भगवान् की उपासना ही बतायेंगे, अयोध्याजी जाइये, भगवान्

राम का ही ध्यान बतायेंगे और यदि हरिद्वार जायेंगे तो वहाँ के संन्यासी ब्रह्म ही बनायेंगे । प्रायः ये पथ-प्रदर्शक साधक की श्रद्धा, रुचि, योग्यता के बारे में कुछ पूछते ही नहीं, अपनी इच्छा के अनुसार या सम्प्रदायानुसार साधन का उपदेश करते रहते हैं, इसलिए सच्चे साधकों को भी साधन से विशेष लाभ नहीं होता ।

क्रियाशक्ति, भावनाशक्ति, और ज्ञानशक्ति ये तीन शक्तियाँ प्रत्येक मानव में रहती हैं । किसी व्यक्ति में या किसी काल में किसी एक शक्ति की प्रधानता, अन्य दो शक्तियों की गौणता हो सकती है, किन्तु किसी भी शक्ति का सर्वथा अभाव किसी भी व्यक्ति में, किसी भी काल में नहीं हो सकता । इन क्रिया, भावना तथा ज्ञानशक्तियों के दुरुपयोगरूप असाधन से ही मनुष्य दुःखरूप फल का भाजन होता है, यह बात सभी के अनुभव से सिद्ध होने के कारण सभी को मान्य है । ऐसी दशा में इन तीनों शक्तियों के सदुपयोगरूप साधन से ही दुःख का निवारण होगा, यह बात स्वयं ही सिद्ध हो जाती है । इनका ही सम्यक् अतिसूक्ष्म गम्भीर विचार द्वारा परिष्कार करके शास्त्रकारों ने कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग नाम से साधन का विभाजन विज्ञानपूर्वक किया है । उसे ही यहाँ प्रमाणों सहित लिखा जायेगा ।

श्रीभगवानुवाच

'योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ।।
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु ।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ।।
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ।।

(भाग० ११।२०।६-८)

अर्थ—भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—मनुष्यों के कल्याण का विधान करने के लिए मैंने ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग ये तीन योग कहे हैं, इनके अतिरिक्त अन्य उपाय कहीं नहीं है । कर्मों में जिनका राग नहीं, यहीं जिन्होंने

कर्मों का त्याग कर दिया है, वे ज्ञानयोग के अधिकारी हैं। जिनके हृदय में कर्मों से वैराग्य नहीं, ऐसे सकामी व्यक्ति कर्मयोग के अधिकारी हैं। मेरी कथा आदि में जिनकी स्वाभाविक श्रद्धा है तथा जो न अत्यन्त आसक्त हैं और न अत्यन्त विरक्त ही हैं, वे भक्तियोग के अधिकारी हैं, उनको भक्तियोग ही सिद्धि दे देता है।

क्रियाशक्तिप्रधान साधक को कर्म से वैराग्य न होने के कारण कर्मयोग का अधिकारी बताना, कर्म से वैराग्यवाले ज्ञानशक्तिप्रधान साधक का ज्ञानयोग में अधिकार बताना ठीक ही है एवं भगवत्कथा में स्वाभाविक श्रद्धा-वाले साधक को भक्तियोग का अधिकारी बताना भी सर्वथा मनोविज्ञानपूर्ण है। एक-एक शक्तिप्रधान साधकों के लिए साधन का विभाजन जिस प्रकार विज्ञानपूर्वक किया गया है, उसी प्रकार दो शक्तियों की प्रधानता श्रद्धा तथा रुचि की विचित्रता, सकामता-निष्कामता आदि का सम्यक् निदान करके विभिन्न प्रकार से साधन का विभाजन विद्वान् स्वयं कर सकते हैं। संक्षेप में उनका दिग्दर्शन यहाँ कराया जाता है।

कर्मयोग के भेद—क्रियाशक्तिप्रधान साधक श्रद्धा तथा रुचि के भेद के कारण भिन्न भिन्न साधन के अधिकारी होते हैं। देखिये क्रियाप्रधान होने पर भी किसी की श्रद्धा कुष्ठियों की सेवा में है, सन्त-सेवा में नहीं, अतः ऐसे साधक के लिए कुष्ठियों की सेवारूप साधन का ही विधान कल्याणकारी होगा, सन्तसेवा नहीं। किसी की श्रद्धा तो दोनों में है किन्तु रुचि सन्तसेवा में है, कुष्ठियों की सेवा में नहीं, अतः उसके लिए सन्तसेवा का ही विधान करना चाहिए।

एवं जिसमें क्रियाशक्ति के साथ भावनाशक्ति की भी प्रधानता हो उसके लिए दोनों शक्तियों से मिलकर सम्पन्न होनेवाली मूर्तिपूजा का विधान करना चाहिए। साथ में उसकी श्रद्धा, रुचि का ध्यान रखकर भगवान् राम, कृष्ण, विष्णु, शङ्कर, आदि की मूर्ति-पूजा का विधान करना ही कल्याणकारी होगा।

एवं यदि साधक सकाम हो, अर्थात् लौकिक सुखभोग के प्रधान साधन धन की कामना से युक्त हो तो उसकी श्रद्धा तथा रुचि का ध्यान रखते हुए शास्त्रविहित अध्यापन, कृषि, वाणिज्य, सेवा आदि लौकिक साधन का या कारीरी यागादि अलौकिक साधन का विधान करना चाहिए। यदि अलौकिक स्वर्गादि सुखों की कामना हो तो अधिकारानुसार अग्निहोत्र, माता-पिता, गुरु की सेवा आदि साधन का विधान करना चाहिए। कृषि आदि लौकिक साधन भी शास्त्रविहित होने के कारण शास्त्रीय साधन ही हैं। इनका अव-लम्बन लेने से भी चोरी, घूसखोरी आदि धन उपार्जन के निषिद्ध साधनों का परित्याग होने से साधक का उत्थान होता है। निष्काम कर्मयोग का वर्णन 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' (गी० २।४७) में किया गया है, क्योंकि इस श्लोक में फल में अधिकार और आसक्ति का निषेध किया गया है। इस निष्काम कर्मयोग के भी श्रद्धा तथा रुचि के भेद से अनेक भेद पूर्वोक्त प्रकार से हो जाते हैं। क्रियाप्रधान होने के कारण हठयोग का कर्मयोग में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

भक्तियोग के भेद—भावनाशक्तिप्रधान साधक भी श्रद्धा तथा रुचि के भेद के कारण भिन्न-भिन्न देवों की उपासनारूप भिन्न-भिन्न साधन के अधिकारी होते हैं। देखिये—सात्त्विक श्रद्धावाले देवों की, राजस श्रद्धावाले यक्ष और राक्षसों की एवं तामस श्रद्धावाले भूतप्रेतों की उपासना करते हैं—

'यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥' (गी० १७।४)

सात्त्विक श्रद्धावालों में भी हँसमुख तथा विनोदप्रिय साधक भगवान् कृष्ण की, मर्यादानुसार व्यवहार में रुचिवाले भगवान् राम की तथा विरक्ति में रुचि वाले भगवान् शंकर की उपासना पसन्द करते हैं। कुछ साधक आकारमात्र को विकार मानने के कारण निराकार ईश्वर की उपासना के अधिकारी होते हैं।

भावनाशक्ति के साथ ज्ञानशक्ति की भी प्रधानता हो तो ऐसे साधक के लिए दर्शनविचारमूलक उपासनारूप साधना का विधान करना चाहिए।

सकामता हो तो कामना के अनुरूप भिन्न-भिन्न देवों की उपासना बतानी चाहिए। निष्कामता हो तो भी श्रद्धा और रुचि पर ध्यान रख कर ही भगवान् राम, कृष्णादि की उपासना का विधान करना चाहिए। भावनाप्रधान होने के कारण पातञ्जलयोग का भक्तियोग में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

ज्ञानयोग के भेद—ज्ञानशक्तिप्रधान व्यक्ति भी श्रद्धा तथा रुचि के भेद के कारण कपिलाचार्य प्रतिपादित सांख्ययोग नामक द्वैतज्ञानयोग, शंकराचार्य प्रतिपादित अद्वैतज्ञानयोग आदि भिन्न-भिन्न ज्ञानयोगों के अधिकारी होते हैं। ज्ञानशक्ति के साथ क्रियाशक्ति की भी प्रधानता होने पर पूर्वमीमांसासम्मत ज्ञान का सम्पादन करके यागादिक कर्म करने के अधिकारी होते हैं अथवा आयुर्वेदसम्बन्धी ज्ञान सम्पादनपूर्वक चिकित्सा द्वारा जनताजनार्दन की सेवा के अधिकारी होते हैं। सकामता होनेपर चिकित्सा तथा यज्ञादिक कार्य सकाम भाव से और निष्कामता होनेपर निष्काम भाव से करने के अधिकारी होते हैं।

सारांश–क्रिया, भाव और ज्ञान इन तीन शक्तियों में से किसकी प्रधानता है इसका श्रद्धा तथा रुचि की विचित्रता, सकामता एवं निष्कामता आदि सभी का सम्यक् निदान करके ही किया कराया गया साधन कल्याणसम्पादन में समर्थ होता है। इसके विपरीत इन सब की सम्यक् परीक्षा तथा समीक्षा किये विना स्वेच्छा-अनुसार या सम्प्रदायानुसार किया कराया गया साधन कल्याण-सम्पादन में समर्थ नहीं होता, अतः इनका निदान करके ही साधन करना कराना चाहिए।

●

निष्काम कर्मयोग

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥'

(गी० २।४७,४८)

अर्थ—तुम्हारा कर्म करने में ही अधिकार है, उसके फल में कभी नहीं, अत: तुम कर्मफल के हेतु (फलासक्तियुक्त) मत होओ और तुम्हारी कर्म न करने में भी आसक्ति न हो।

हे धनंजय ! आसक्ति का त्याग कर तथा सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धिवाला होकर योग में स्थित हुए तुम कर्मों को करो, समत्व को ही योग कहा जाता है।

इन दो श्लोकों में से पहले श्लोक में निष्काम कर्मयोग का स्वरूप बताया है और दूसरे श्लोक में उसे 'किस प्रकार करना चाहिए' यह प्रक्रिया बताई है। यहाँ 'मा फलेषु कदाचन' तथा आगे 'कृपणा: फलहेतव:' इन वाक्यों से फल का निषेध तथा निन्दा करने से स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ निष्काम कर्मयोग का ही वर्णन है, सकाम कर्मयोग का नहीं। निषिद्ध कर्म करने की अपेक्षा सकाम कर्मयोग भी कल्याणकारी होने के कारण भागवत आदि में उसका भी वर्णन किया है, परन्तु परम कल्याणकारी तो निष्काम कर्मयोग ही है, इसलिए उसी का यहाँ विशेष विवेचन किया जायेगा।

'मा फलेषु कदाचन' इस वाक्य से फल का निषेध कर देने पर पुन: 'मा कर्मफलहेतुर्भू:' इस वाक्य से फलहेतु के निषेध का तात्पर्य यह है कि फल-हेतु है (फलासक्ति), उसका त्याग न करने पर फल अवश्य मिलेगा, अत: फलासक्ति का भी त्याग अवश्य करना चाहिए। यह नियम विहित कर्मों के

के फलों में ही है, निषिद्धकर्मफल में नहीं, क्योंकि निषिद्ध कर्म के फल दुःख में किसी की भी आसक्ति नहीं होती तो भी उसका फल अवश्य भोगना पड़ता है। फल तथा फलासक्ति का भी त्याग कर देने पर श्रम तथा कष्ट दायक कर्मों में प्रवृत्ति का न होना स्वाभाविक है, उसका निषेध 'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' इस वाक्य से किया गया है। इसका कारण यह है कि क्रियाप्रधान शक्तिवाला व्यक्ति यदि कर्म न करेगा तो उसको नैष्कर्म्यरूप सिद्धि या अन्तःकरण की शुद्धिरूप सिद्धि ही प्राप्त न होगी। इतना ही नहीं, किन्तु जीवन-यात्रा भी न चल सकेगी, इसलिए उसे कर्म करना ही चाहिए। ये सब बातें गीता के निम्नलिखित श्लोकों में कही हैं—

'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥'
(गी० ३।४)

'शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।'
(गी० ३।८)

'योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये।'
(गी० ५।११)

'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते॥'
(गी० ६।३)

इस प्रकार गीता २।४७ में निष्काम कर्मयोग का जो स्वरूप बताया गया है उसपर कुछ विस्तार से विचार किया गया। अब गीता २।४८ में जो निष्काम कर्मयोग करने का प्रकार अर्थात् प्रक्रिया बताई गई है उसपर भी कुछ विस्तार से विचार लिखा जाता है।

किसी भी कर्म का जो फल होता है वही उस कर्म की सिद्धि है, 'मा फलेषु कदाचन' कहकर जब फल अर्थात् सिद्धि का त्याग करा ही दिया है तब पुनः 'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा' कहकर सिद्धि और असिद्धि में समान रहने का क्या तात्पर्य है ? यह शङ्का होती है, इसका समाधान यह है कि कर्म के मुख्य फल के अतिरिक्त कर्म का साङ्गोपाङ्ग सम्पादन हो जाने को भी

कर्मसिद्धि शब्द से कहा जाता है। अतः निष्काम कर्मयोगी को केवल कर्म-फलरूप सिद्धि का त्याग ही नहीं करना, किन्तु क्रिया की सिद्धि और असिद्धि में भी समता का सम्पादन आवश्यक है, नहीं तो समता के विना क्रिया की असिद्धि में अशान्ति अवश्य होगी। ऐसी दशा में 'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' (गी० १२।१२) में कथित सिद्धान्त या लक्ष्य सिद्ध न होगा तथा 'योगस्थः कुरु कर्माणि' अर्थात् 'योग (समता) में स्थित हो कर कर्मों को करो' यह प्रक्रिया भी नष्ट हो जायेगी, क्योंकि भगवान् ने योगशब्द की व्याख्या करते हुए समता को ही योग कहा है—'समत्वं योग उच्यते'।

अतः संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कर्म-फल और कर्म-फलासक्ति का त्याग कर तथा क्रिया की सिद्धि और असिद्धि में भी समता का भाव रख कर केवल कर्तव्य भाव से कर्म करना ही निष्काम कर्मयोग है। इस निष्काम कर्मयोग का उपयोग केवल अलौकिक कर्मों में ही नहीं, किन्तु यथासंभव जीवन-निर्वाहक लौकिक कर्मों में भी करना चाहिए, तभी 'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' इस वाक्य में कथित त्याग के अनन्तर शान्ति मिलेगी, अन्यथा नहीं।

इस प्रकार यहाँ तक कुछ विस्तार के साथ गीता २।२७ में कथित 'निष्काम कर्मयोग के स्वरूप' पर तथा गीता २।४८ में कथित 'उसके करने के प्रकार अर्थात् प्रक्रिया' पर विचार किया गया है, अब आगे वर्तमान काल में उपयोगी निष्काम-कर्मयोग के प्रकार का अधिक विस्तार से विशेष विचार करना अति आवश्यक होने से उसी पर कुछ लिखने का प्रयास किया जायेगा।

निष्काम कर्मयोग का विशेष विवेचन

वर्तमान में द्विजत्व-सम्पादक उपनयनादि संस्कारों का प्रायः लोप हो गया है। ऐसी दशा में द्विजत्वमूलक अग्निहोत्र, सन्ध्यावन्दनादि कर्मों का भी साङ्गोपाङ्ग सम्पादन होना भी कठिन हो गया है, अतएव इन शास्त्रीय नित्य-नैमित्तिक कर्मों का निष्काम भाव से करना रूप जो निष्काम कर्म-योग का मुख्य शास्त्रीय स्वरूप था, उसका भी प्रायः लोप सा हो गया। विधिवत् सङ्कल्प-पूर्वक न्यायोपार्जित धन का वेदमर्मज्ञ वैदिक धर्मपरायण ब्राह्मण को दान

देना रूप निष्काम कर्म का भी प्रायः लोप हो गया है। वर्तमान में जो दान दिया जाता है, वह प्रायः अन्न, वस्त्र, औषध आदि अत्यावश्यक जीवननिर्वाहक-साधनों से हीन लोगों को दिया जाता है। उसे सहायता या सेवा ही कहा जा सकता है, शास्त्रीय दान नहीं कहा जा सकता। ऐसी दशा में माता-पिता तथा गुरु की सेवा, स्वस्वकर्म द्वारा जनताजनार्दन की सेवा, दीन-दुखियों की सेवा, गायों तथा गायों के समान दयापात्र पावन सती विधवाओं की फल की कामना के बिना निष्काम सेवा को ही वर्तमान में निष्काम कर्मयोग कहा जा सकता है। इसपर होनेवाली शङ्काओं का समाधान करते हुए निष्काम कर्मयोग का वर्तमान उपयोगी विवेचन किया जायेगा।

जीवननिर्वाहक कर्मों में निष्काम कर्मयोग का उपयोग

शङ्का—'जीवननिर्वाहक लौकिक कर्मों में भी निष्काम कर्मयोग का उपयोग करना चाहिए' ऐसा पूर्व में कहा गया है। सर्वजन तथा सर्वकाल उपयोगी होने से इसपर ही प्रथम विचार करना अतिहितकर होगा। इसमें हमें ये शङ्काएँ होती हैं—जीवननिर्वाहक अन्न, जल, वस्त्र और औषधिसेवन का फल क्रमशः क्षुधा, पिपासा, सर्दी-गर्मी और रोग की निवृत्ति है। इन फलों को न चाहना सर्वथा असम्भव है, क्योंकि इनके बिना तो जीवननिर्वाह ही नहीं हो सकता है। इन फलों की कामना रहते इनकी प्राप्ति के लिए की गई क्रियाओं की सिद्धि और असिद्धि में समता का बना रहना असंभव है। इसी प्रकार जीवननिर्वाह के लिए मल-मूत्र का त्याग करना, टिकट के लिए पंक्ति में खड़ा होना, गाड़ी पर चढ़ना आदि प्रतिदिन की जानेवाली क्रियाओं की सिद्धि तथा असिद्धि में समता का बना रहना तथा उनके फलों को न चाहना सर्वथा असंभव होने के कारण जीवननिर्वाहक लौकिक कर्मों में निष्काम कर्मयोग का उपयोग कैसे किया जा सकता है?

समाधान—जीवननिर्वाहक उक्त कर्मों का मुख्य लक्ष्य है स्वस्थ जीवन द्वारा कर्मयोग की साधना से अन्तःकरणशुद्धिपूर्वक तत्त्व-जिज्ञासा। जैसा कि भागवत में कहा है—

'कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः॥

(भाग० १।२।१०)

अर्थ—काम का (अर्थात् अन्न, जलादि भोग्य पदार्थों का) लक्ष्य इन्द्रियों की तृप्ति नहीं, किन्तु जीवननिर्वाह है, जीवन का लक्ष्य तत्त्व-जिज्ञासा है, अर्थ नहीं, क्योंकि अर्थ तो प्रारब्ध कर्मानुसार ही संसार में प्राप्त होता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि अन्न, जल आदि सेवन का क्षुधा तथा तृषा की निवृत्तिरूप फल यदि जीवननिर्वाह के लिए है और जीवन कर्मयोग आदि साधनों द्वारा लक्ष्यप्राप्ति करने के लिए है, इस भाव से साधक क्षुधा तथा तृषा की निवृत्ति-रूप फलों को चाहता है तो वह निष्काम ही है। निष्काम का अर्थ है 'अपार संसार-सागर में चक्कर लगवानेवाले फलों को न चाहना'। किसी भी फल को न चाहना निष्काम का अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि अन्तःकरण की शुद्धि, भगवान् की प्रसन्नता, मोक्ष की प्राप्ति-रूप फलों का निषेध शास्त्रों कहीं नहीं किया गया, किन्तु इन फलों की प्राप्ति के लिए ही सकल साधनाओं का शास्त्र में विधान किया है। कामना का सर्वथा अभाव होने पर तो क्रिया हो ही नहीं सकती, क्योंकि जो किया जाता है, वह कामनापूर्वक ही किया जाता है, ऐसा महाकर्मयोगी मनु महराजजी ने स्पष्ट कहा है—

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित् तत्तत्कामस्य चेष्टितम्॥

(मनु० २।४)

अतः लक्ष्य-प्राप्ति में सहायक क्षुधा आदि की निवृत्तिरूप फलों की कामना का होना निष्कामता में बाधक न होने से त्याज्य नहीं। ऐसा अर्थ स्वीकार न करने पर लौकिक-अलौकिक सम्पूर्ण साधन व्यर्थ हो जायेंगे।

'क्षुधा, तृषा आदि की निवृत्तिरूप फलों की कामना रहते इनकी प्राप्ति के लिए की गई क्रियाओं की सिद्धि और असिद्धि में समता का बना रहना असंभव है', ऐसी जो शंका की गई थी वह ठीक नहीं, क्योंकि 'प्रारब्ध ही ऐसा था' 'हम जो पुरुषार्थ कर सकते थे सो कर लिया, इतने पर भी कार्य नहीं हुआ

तो हमारा क्या दोष है, 'इसमें भी भगवान् का कुछ मंगलमय विधान होगा' इत्यादि भावनाओं से क्रियाओं की सिद्धि और असिद्धि में समता कभी-कभी रह जाती है, ऐसा सभी साधकों को अनुभव होता है। यदि ये भावनाएँ पुनः पुनः विचार तथा समय-समय पर प्रयोग द्वारा दृढ़ कर ली जायें तो दृढ़ता के तारतम्यानुसार सदा या प्रायः समता का बना रहना संभव है।

व्यापारादि में निष्काम कर्मयोग का उपयोग

शङ्का—अध्यापन-याजन, प्रजारक्षण, कृषि-व्यापार तथा नौकरी आदि सभी कार्यों का फल धन-सम्पादन ही है, धनरूप फल का त्याग करके इनका किया जाना संभव नहीं, अतः व्यापारादि में निष्काम कर्मयोग का उपयोग करना कैसे सम्भव होगा ?

समाधान—जिस परमेश्वर से समस्त प्राणियों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त संसार व्याप्त है, उस परमेश्वर की अपने कर्मों द्वारा पूजा करके मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर लेता है। ऐसा गीता में कहा है—

'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥'

(गी० १८।४६)

अतः व्यापारादि स्व स्व कर्मों द्वारा जनता-जनार्दनरूप परमेश्वर की सेवा करना ही व्यापार आदि में निष्काम कर्मयोग का उपयोग करना है। स्व-शरीर-रक्षा के विना उक्त सेवा कार्य हो नहीं सकता, अतः शरीर-रक्षा के लिए उचित धन-सम्पादनरूप फल की कामना का होना उक्त सेवा-कार्यरूप निष्काम कर्मयोग का साधक ही है वाधक नहीं।

शङ्का—जो लोग केवल स्व-शरीररक्षामात्र के लिए उचितमात्रा में धन ग्रहण करते हैं, उनका व्यापारादि कर्म भले ही निष्काम कर्मयोग बन जाये, किन्तु जो अपने स्त्री, बच्चों, मकानों आदि के लिए भी धन-ग्रहण करते हैं तथा जो लोग अतिमात्रा में धनराशि का संग्रह भी करते हैं। उनके व्यापारादि कर्म को निष्काम कर्मयोग कैसे कहा जा सकता है ?

समाधान—जैसे निष्काम भाव से समाज की सेवा करनेवाली एक बड़ी संस्था है। उसमें कुछ लोग अन्न, वस्त्रादि का उत्पादन करते हैं, कुछ अन्नादि को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाते हैं, कुछ अन्नादि का जनता-जनार्दन में वितरण करते हैं, कुछ लिखा-पढ़ी द्वारा हिसाब रखते हैं, कुछ स्त्रियाँ इन सब सेवकों के लिए भोजन बनाती हैं, कुछ नये सेवकों को तैयार करने के लिए बालकों का पालन-पोषण करती हैं एवं कुछ इन बालकों को योग्य शिक्षा देते हैं। सेवा करनेवाली संस्था का स्वामी स्त्री और बच्चों के लिए भी धन ग्रहण करता है, तो भी वह निष्काम सेवा करनेवाली संस्था ही बनी रहती है, क्योंकि वे स्त्री, बच्चे भी साक्षात् या परम्परा से सेवा-कार्य में ही लगते हैं। अति मात्रा में एकत्रित धनराशि का समय पर स्व-संस्था में तथा आवश्यकता होने पर पर-संस्था में भी उदारतापूर्वक उपयोग करने के कारण धनराशि का संग्रह भी निष्कामता में बाधक नहीं होता। अतः संस्था का सारा कार्य निष्काम कर्मयोग बन जाता है।

वैसे ही ४-६-१० स्त्री, पुरुषों और बच्चोंवाला परिवार भी एक छोटी-सी संस्था है, उसका स्वामी यदि उक्त रीति से जनताजनार्दन की सेवा के लिए ही व्यापारादि स्वस्वकर्मों को करता है और सेवा में साक्षात् या परम्परा से काम आनेवाले अपने शरीर का, स्त्री तथा बच्चों का भरण-पोषण करने के लिए धनग्रहण करता है तथा अतिरिक्त अधिक धनराशि का समयानुसार आवश्यकता होने पर उदारतापूर्वक जनताजनार्दन की सेवा में उपयोग कर देता है तो उसका सारा कार्य भी निष्काम कर्मयोग बन जाता है।

माता-पिता तथा गुरु की सेवा में निष्काम कर्मयोग का उपयोग

शङ्का—वृद्ध रोगग्रस्त माता-पिता तथा गुरुजनों की चिकित्सा द्वारा सेवा करते हुए साधक के मन में इनके रोगमुक्त होने की कामना का होना अनिवार्य है, अन्यथा चिकित्सारूप सेवा कार्य में प्रवृत्ति का होना संभव नहीं। रोग-निवृत्तिरूप फल की कामना रहते रोगनिवृत्ति तथा इसके साधन औषधि के प्राप्त होने और न होने रूप सिद्धि और असिद्धि में समता का बना रहना कैसे

संभव है ? समता के बिना माता-पिता तथा गुरु की सेवारूप कार्य को निष्काम कर्मयोग कैसे कहा जा सकेगा ?

समाधान—अतिवृद्ध, असाध्य रोगग्रस्त, मरणासन्न माता-पिता तथा गुरुजनों की चिकित्सारूप सेवा में रोगमुक्ति की कामना होती ही नहीं, तो भी अस्पताल के सेवकों की भाँति चिकित्सारूप सेवाकार्य में प्रवृत्ति का होना संभव है तथा औषधि की प्राप्ति तथा अप्राप्ति रूप सिद्धि एवं असिद्धि में समता का बना रहना भी संभव है ।

अतिवृद्ध नहीं, असाध्य रोग से ग्रस्त भी नहीं, ऐसे माता-पिता तथा गुरुजनों की चिकित्सारूप सेवा का फल जो रोगनिवृत्ति है, उसकी कामना का होना प्राय: स्वाभाविक है । यदि यह कामना किसी सांसारिक वस्तु की प्राप्ति के लिए न हो तो निष्कामता में बाधा भी नहीं पहुँचा सकती, क्योंकि पीछे कहा जा चुका है कि 'अपार संसारसागर में चक्कर लगवानेवाले फलों को न चाहना ही निष्कामता हैं' ।

यदि कहें कि माता-पिता तथा गुरुजनों की दीर्घकाल तक सेवा से तथा उनके सदुपदेश से होनेवाले अन्त:करणशुद्धि आदि असांसारिक फल की कामना से ही यद्यपि उनके रोग की निवृत्ति की कामना हो रही है, तथापि उनके कारण भी तोअशान्ति हो ही रही है, अत: 'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' का सिद्धान्त नष्ट हुआ जा रहा है ।

इसका उत्तर यह हैं कि 'किसी के रोग की निवृत्ति कर ही लेना सर्वथा पुरुष के हाथ में नहीं, इसमें माता-पिता आदि के प्रारब्ध ही मुख्य होते है ।' 'इन माता-पिता तथा गुरुजनों का वियोग हो जाने पर भगवान् के मङ्गलमय विधान द्वारा किसी अन्य महापुरुष की सेवा करना तथा उपदेश सुनने का अवश्य अवसर प्राप्त होगा', 'इनकी सेवा में जो समय लगता था उसे अब साक्षात् भगवान् के भजन-ध्यान में लगाकर शीघ्र कल्याण का भाजन बन जाऊँगा' इत्यादि शुभ भावनाओं और सद्विचारों द्वारा रोगनिवृत्ति न होने तथा औषधि की प्राप्ति न होने रूप असिद्धि में भी समता का बना रहना संभव

है। यदि किसी सांसारिक कामना की पूर्ति के लिए उनके रोगनिवृत्ति की कामना हो रही है तो जब निष्कामता ही नहीं रही तब समता रह ही कैसे सकती है।

दीनों, गायों तथा विधवाओं की सेवा में निष्काम कर्मयोग का उपयोग

शङ्का—एक बार शीतकाल में प्रातः जब कुछ अँधेरा था तब जिसका सारा शरीर नंगा था केवल कमर में एक हाथ चौड़ा फटा पुराना मैला वस्त्र लपेटे सर्दी से कांपती दोनों हाथों में नवजात रोते हुए शिशु को लिए स्वयं भी रोती हुई चिल्लाती थी 'हाय ! दोनों प्राणी मरे, कोई बचा लो' देख कर बड़ी दया आई, जो बन सका अधिक से अधिक सहायता कर दी। कुछ लोगों से इसकी चर्चा की तो उन्होंने कहा कि इन लोगों का धन्धा ही यही है। सुन कर बहुत क्रोध आया 'तुम लोगों में जरा भी दया नहीं' ऐसा कहकर उन्हें फटकारा, किन्तु ५-१० दिन बाद उसी स्त्री को उसी वेष में बच्चा लिये चिल्लाती रोती हुई देखकर उन लोगों के कथन की सत्यता का प्रत्यक्ष हो गया। ऐसी दशा में जब कि आँखों देखी प्रत्यक्ष दीनता में सहायता का दुरुपयोग हो जाता है, तब परोक्ष सुनी हुई दीनता में की गई सहायता का सर्वथा दुरुपयोग हो जाये तो इसमें सन्देह ही क्या ? अतः किस प्रकार दीनों की सेवा की जाये जिससे द्रव्य का दुरुपयोग न हो ?

गायों की सेवा के नाम पैसा लेनेवाले भी प्रायः उसका अपने काम में दुरुपयोग करते हैं। इसके अतिरिक्त अति बूढ़ी गायों का जिन्दा रहना ही बेकार है, उनके लिए जो चारा दिया जाता है वह चारा दूध देनेवाली गायों को खिलाया जाये तो दूध अधिक होगा जिसे पीकर मनुष्य स्वस्थ होंगे। अतिवृद्ध गायों की सेवा करने से क्या लाभ है ?

विधवाओं की सेवा में भी प्रायः पैसा दुरुपयोग में ही लगता है 'विधवन्ह के सिंगार नवीना' का दृश्य ही देखने में प्रायः आता है। जो कुछ सती साध्वी सात्त्विक स्वभाववाली विधवाएँ हैं, उनमें से युवावस्थावाली विधवाओं का संरक्षण होना बहुत आवश्यक है, ऐसा मैं मानता हूँ, क्योंकि भरण-पोषण का लालच देकर मानववेषधारी दानव उनके सतीत्व धर्म का ही शोषण कर लेते हैं। इन सती साध्वी युवावस्थावाली सच्चे संन्यासी जैसी पवित्र विधवाओं की

सेवा में सबसे बड़ी कठिनाई यह होती है कि दुष्ट लोग दूषित सम्बन्ध की कल्पना करके समाज में गलत प्रचार करके बदनाम कर देते हैं, इससे बचने का क्या उपाय है ?

समाधान—दीनों, गायों तथा विधवाओं की सेवा करने से पूर्व जितना हम सदुपयोग के बारे में विचार कर सकने में समर्थ हों उतना अच्छी तरह विचार करके ही सहायता में पैसा लगाना चाहिए। बाद में यदि उस पैसे का दुरूपयोग हुआ है, ऐसा जानने को मिल भी जाये तो भी कुछ चिन्ता नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जितनी सावधानी में कार्य करने का विधान है वैसा करने पर भी कार्य सफल न हो तो कर्ता का कोई दोष नहीं माना जाता। इतना ही नहीं, किन्तु कर्तव्य-पालन करने के कारण ईश्वर उसपर प्रसन्न ही होता है। इसके अतिरिक्त शुद्ध सात्त्विक पैसा हो तो प्रायः शुद्ध सात्त्विक पवित्र पात्र मिल ही जाता है, इसलिए शास्त्रविहित रीति से ही पैसा कमाना चाहिए।

अति वृद्ध गायों के शरीर, गोबर तथा मूत्र से अनेकों रोगों का विनाश करनेवाले तथा सत्त्वगुण का विकास करनेवाले परमाणु निकलते रहते हैं, इससे मनुष्यों के स्वास्थ्य को जो लाभ होता है वह लाभ अतिवृद्ध गायों की सेवा में होनेवाली अर्थहानि से अधिक मूल्यवान् है। इसपर अधिक विचार 'वैदिक विविधचर्या-विज्ञान' के 'गोपूजा-विज्ञान' नाम के शीर्षक में लिखा है, उसे पढ़ें।

सती साध्वी युवावस्थावाली विधवाओं की सेवा अतिवृद्ध माता, दादी या नानी के माध्यम से करानी चाहिए, इससे दुष्टों को बदनाम करने का अवसर न मिलेगा। अथवा वृन्दावन, चित्रकूट, नदिया आदि में स्थापित विधवा-संरक्षक 'महिला-भजनाश्रम' जैसी पवित्र प्रसिद्ध संस्थाओं के माध्यम से सेवा करनी चाहिए।

सबसे पहले अपने घर, पड़ोस और गाँव की विधवाओं, दीनों, गायों की सेवा करनी चाहिए, क्योंकि इनके सारे जीवन तथा सारी परिस्थिति से अच्छी

तरह परिचित होने के कारण दुरुपयोग की संभावना ही नहीं। इसके अतिरिक्त सबसे पहले जिनकी सेवा करने का विधान शास्त्र में किया है उनकी पहले सेवा न करके, उनके दुःखी रहते या उन्हें दुःख देकर जो दूसरों की सेवा की जाती है वह सेवा अधर्मरूप ही होती है। इस लोक में निन्दारूप दुःख की तथा परलोक में नरकरूप दुःखों की उत्तरोत्तर जनक होती है, ऐसा मनु महाराज ने कहा है—

'शक्तः परजने दाता स्वजने दुःखजीविनि।
मध्वापातो विषास्वादः स धर्मप्रतिरूपकः॥
भृत्यानामुपरोधेन यत्करोत्यौर्ध्वदेहिकम्।
तद्भवत्यसुखोदर्कं जीवतश्च मृतस्य च॥'

(मनु. ११।९,१०)

अर्थ—अपने स्वजनों के दुःखमय जीवन व्यतीत करने पर समर्थ मनुष्य उनकी रक्षा न करके दूसरे को जो दान देता है, वह मधु मिले विष का स्वाद चखता है। उसका वह धर्म अधर्मरूप है। भरण-पोषण योग्यों को कष्ट देकर जो पारलौकिक कर्म करता है उसका वह कर्म इस जीवन में तथा मरने पर उत्तरोत्तर दुःख देनेवाला होता है।

इस प्रकार वर्तमान काल के उपयोगी 'जीवन-निर्वाहक कर्मों में, व्यापारादि कर्मों में एवं माता-पिता, गुरु, दीनों, गायों तथा सती साध्वी विधवाओं की सेवा में निष्काम कर्मयोग का उपयोग कैसे किया जाता है? तथा उसमें होनेवाली सार्वजनिक शंकाओं का समाधान क्या है? इसका विस्तार से विचार इसलिए किया गया है कि वर्तमान में प्रवृत्तिप्रधान साधकों के लिए निष्काम कर्मयोग ही है।

सारांश—'अपार संसारसागर में निरन्तर चक्कर लगवानेवाली सांसारिक फल की कामना ही दूषित कामना होने के कारण त्याज्य है।' 'अन्तःकरण की शुद्धि, मोक्ष की प्राप्ति, परमात्मा की प्रसन्नता आदि असांसारिक फलों की कामना अपार संसारसागर के चक्कर से बचानेवाली होने के कारण एवं

दूषितकामनाजनक न होने के कारण सर्वथा उपादेय है, शास्त्रविहित है तथा सारे साधनों तथा जीवन का एकमात्र साध्य यही है, अतः इनकी और इनकी प्राप्ति में सहायक क्षुधा-निवृत्ति, धनप्राप्ति आदि लौकिक फलों की कामना निष्कामता में बाधक नहीं, किन्तु साधक होने के कारण त्याज्य नहीं, किन्तु उपादेय ही हैं। प्रथम घर, पड़ोस, गाँवों के ही दीनों, विधवाओं और गायों की निष्काम भाव से सेवा करनी चाहिए, बाद में दूसरों की सेवा करनी चाहिए। सेवा करने से पूर्व ही सदुपयोग पर यथासम्भव विचार करना चाहिए। बाद में दुरुपयोग हो तो भी सेवा करनेवाले का तो कल्याण ही होगा।

●

निष्काम भक्तियोग

क्रियाशक्तिप्रधान प्रवृत्तिपरायण लोगों के लिए निष्काम कर्मयोग ही कल्याणकारी है। वर्तमान काल के उपयोगी निष्काम कर्मयोग का विवेचन 'निष्काम-कर्मयोग' नाम के लेख में देखना चाहिए, किन्तु जो साधक भावनाशक्तिप्रधान होने के कारण भगवान् के गुणगान में स्वाभाविक श्रद्धावान् हैं तथा न अत्यन्त विरक्त हैं और न अत्यन्त आसक्त हैं, उनके लिए निष्काम भक्तियोग की साधना ही सिद्धि देनेवाली है, ऐसा भागवत में स्पष्ट कहा है—

'यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥'

(भाग० ११।२०।८)

अत्यन्त विरक्त न होने के कारण विषय-भोगों का पूर्णतया परित्याग करने में असमर्थ अपने भक्तों को आश्वासना देते हुए भगवान् कहते हैं—

'जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु।
वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः ॥
ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः।
जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन् ॥
प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो माऽसकृन्मुनेः।
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते ॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि ॥
तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥'

(भाग० ११।२०।२७—३१)

अर्थ— मेरी कथाओं में जिसे श्रद्धा उत्पन्न हो चुकी है तथा जो सभी कर्मों से विरक्त हो चुका है और भोगों को दुःखदायी जानता है, फिर भी परीत्याग करने में असमर्थ है, ऐसा मेरा श्रद्धालु भक्त दृढ़ निश्चयवाला प्रेमी मेरा भजन करे। दुःख पर दुःख देनेवाले भोगों को भोगता हुआ तथा हृदय से निन्दा करता हुआ कथित भक्तियोग के द्वारा बारम्बार मेरा भजन जो करता है, उसके हृदय में मेरे विराजमान हो जाने पर हृदयस्थित कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं, हृदय की ग्रन्थि का भेदन हो जाता है एवं सब संशयों को छेदन हो जाता है, मुझ अखिलात्मा को देख लेने पर इसके कर्म क्षीण हो जाते हैं। इसलिए मुझमें चित्तलगानेवाले मेरी निष्काम भक्ति से युक्त योगी का प्रायः यहाँ ज्ञान और वैराग्य के विना ही कल्याण हो जाता है।

'जुषमाणश्च तान् कामान्' इस वाक्य से भगवान् ने विषयों के भोगने का नूतन विधान नहीं किया, किन्तु परित्याग में असमर्थ होने के कारण प्राचीन काल से भोगे जा रहे विषय-भोग का अनुवादमात्र ही किया है, यह ध्यान रखना चाहिए। एवं 'न ज्ञानं न च वैराग्यं' इस वाक्य द्वारा ज्ञान तथा वैराग्य का निषेध नहीं किया, किन्तु ज्ञान तथा वैराग्य के लिए उसे पृथक् से साधन नहीं करना पड़ता यही बताने में भगवान् का तात्पर्य है, इसका कारण यह है कि भगवान् ने भागवत में ही कहा है—

'भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति-
रन्यत्र चैष त्रिक एककालः।'

(भाग० ११।२।४२)

'मुक्तिं दासीं ददौ तुभ्यं ज्ञानवैराग्यकाविमौ ॥'

(भाग० माहात्म्य २।७)

अर्थ—(शरणागत के हृदय में) भगवान् की भक्ति तथा भगवान् का अनुभव अर्थात् ज्ञान और अन्यत्र से वैराग्य ये तीनों एक काल में ही होते हैं। (हे भक्ति) तुम्हें मुक्तिरूप दासी तथा ज्ञान और वैराग्यरूप ये दोनों पुत्र (भगवान् ने प्रसन्न होकर) दिये हैं।

भक्ति करने के विविध प्रकार

पहला प्रकार

'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥'
(गी० ९।२७)

'शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥'
(गी० ९।२८)

अर्थ--हे अर्जुन ! तुम जो करते हो, जो खाते हो, जो हवन करते हो, जो दान देते हो और जो तप करते हो, सब मेरे अर्पण कर दो। इस प्रकार (भगवदर्पणरूप) संन्यास से युक्त चित्तवाले तुम कर्मजन्य शुभाशुभ फलरूप बन्धनों से मुक्त हो जाओगे और उनसे मुक्त हुए तुम मुझको प्राप्त हो जाओगे।

यहाँ 'यत्करोषि' इस वाक्य से जीवन-यात्रानिर्वाहक शास्त्रविहित अध्यापन, व्यापार आदि स्वकर्मों को तथा सन्तानों के विवाहादि समस्त कर्मों को भगवदर्पण करने को कहा गया है। एवं 'यदश्नासि' इस वाक्य से शरीर-यात्रा-सम्पादक स्नान, भोजन, शयन, मल-मूत्र-परिवर्जन आदि समस्त कर्मों को भगवान् को अर्पण करने को कहा है। इस प्रकार उक्त दो वाक्यों से समस्त लौकिक कर्मों को और 'यज्जुहोषि', 'यत्तपस्यसि' एवं 'यद् ददासि' इन तीन वाक्यों से समस्त अलौकिक कर्मों को भगवान् में अर्पण करने को कहा गया है। यहाँ भी शरीर से भिन्न पदार्थों द्वारा होनेवाले अलौकिक कर्मों को दो भागों में विभाजित किया गया है, (१) परोक्ष देवताओं के लिए किये गये द्रव्य-त्यागरूप समस्त कर्मों को 'यज्जुहोषि' इस वाक्य से कहा है तथा (२) अपरोक्ष गो, ब्राह्मण, माता-पिता, गुरुजनों के लिए किये गये द्रव्यत्यागरूप समस्त कर्मों को 'यद् ददासि' इस वाक्य से कहा गया है। शरीर से होनेवाले सन्ध्या आदि समस्त अलौकिक कर्मों को 'यत्तपस्यसि' इस वाक्य से कहा है।

शंका—शरीर-यात्रानिर्वाहक भोजन, पान आदि का अर्पण करना तो समझ में आता है कि भोजन, पान, वसन आदि को प्रथम भगवान् के अर्पण

करके वाद में प्रसादरूप से उनका सेवन करना ही भोजनादि का भगवदर्पण करना है। स्नान, मलमूत्र के परिवर्जन (त्याग) को भगवदर्पण करने की वात तो सुनते ही रोमाञ्च हो जाता है, अतः इनको अर्पण करने की विधि क्या है ? एवं जीवन-यात्रानिर्वाहक जीविका के कर्मों का तो मनुष्यादि से सम्वन्ध रहता है उनको भी भगवदर्पण करने की विधि क्या है ?

समाधान—भगवत्प्रसन्नतापूर्वक भगवत्प्राप्ति के लिए किये गये भगवदर्पणरूप निष्काम भक्तियोग में जिन कर्मों का साक्षात् या परम्परा से उपयोग होता है, वे सब कर्म भगवदर्पण हो गये ऐसा माना जाता है। भजन, ध्यान आदि कर्मों का निष्काम भक्तियोग में जैसे साक्षात् सम्वन्ध है, वैसे ही मलमूत्र-परित्यागरूप कर्मों का भी परम्परा से सम्वन्ध है, क्योंकि मल-मूत्र का परित्याग किये बिना शरीर की रक्षा नहीं हो सकती, शरीर के बिना भजन-ध्यान नहीं हो सकता—'तनु विनु भजन वेद नहिं बरना।' इसी प्रकार जीविका के कर्मों के विना भी जीवन-यात्रा नहीं चल सकती। दूसरे प्रकार से यह भी कहा जा सकता है कि 'आज्ञा सम न सुसाहिव सेवा' के अनुसार भगवद्-आज्ञा-रूप शास्त्रविहित रीति से अध्ययन, व्यापारादि करना, सन्तानों का विवाह आदि करना तथा मल-मूत्रत्याग करना, भी भगवद् आज्ञा-पालन करना ही है, अतः यही साहब की सेवा अर्थात् भगवान् की भक्ति है।

(भक्ति का यह पहला प्रकार प्रवृत्तिप्रधान भक्तों के लिए उपयोगी है।)

दूसरा प्रकार

'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥'

(गी० ९।२२)

जो अनन्य भक्त मेरा चिन्तन करते हुए उपासना करते हैं, उन नित्य मेरे में लगे चित्त-वालों का योगक्षेम मैं वहन करता हूँ।

इस श्लोक का अर्थ एक महापुरुष इस प्रकार करते हैं—'अनन्य' न अन्यः=अनन्यः अर्थात् वासुदेव भगवान् को छोड़ कर अन्य कुछ है ही नहीं,

'वासुदेवः सर्वमिति' (गी० ७।१९) इस भाव से अर्थात् वस्तुपरिच्छेदरहित भाव से उपासना करते हैं। 'पर्युपासते' परितः=सर्वत्र उपासते अर्थात् देश-परिच्छेदरहित भाव से उपासना करते हैं। 'नित्याभियुक्त' नित्य=काल-परिच्छेदरहित भाव से उपासना करते हैं अर्थात् सर्वदेश में, सर्वकाल में, सर्वरूप में भजन करते हैं, अन्य कुछ जीविका का कार्य नहीं करते ऐसे भक्तों का योगक्षेम अर्थात् जीविका का निर्वाह मैं करता हूँ। (यह अर्थ निवृत्ति-परायण भक्तों के लिए उपयोगी है।)

शङ्का—हमें अभी तक ऐसा कोई भक्त देखने में नहीं आया और न इति-हास-पुराणों में सुनने को ही मिला जो भजन के सिवाय जीवन-निर्वाह के लिए कोई भी कार्य न करता हो, भले ही वह अर्थ-उपार्जन, अन्न-उत्पादन आदि कार्य न करता हो, किन्तु जल लाना, जल पीना, मल-मूत्र का त्याग करना, सर्दी से बचने के लिए धूप में बैठना, गर्मी से बचने के लिए छाया में बैठना, हवा करना, नहाना, दवा खाना तथा मक्खी-मच्छर से रक्षा करने के लिए उन्हें उड़ाना इत्यादि कार्य तो वह स्वयं करता ही है। ये सभी कार्य भी तो जीवन-निर्वाह के लिए ही किये जाने के कारण अन्न-उत्पादन आदि के समान जीविका के ही कार्य हैं।

यदि कहा जाये कि भक्त सद्योजात २-४ दिन के बालक की भाँति पूरी तरह भगवान् के ही आश्रित हो तो माता जैसे २-४ दिन के बालक के जल पिलाना, मक्खी उड़ाना, दवा खाना आदि सभी कार्य स्वयं करती है वैसे ही भगवान् भी उस भक्त के उक्त सभी कार्य स्वयं करते हैं, जैसे नरसी भक्त के करते थे, यह इतिहास प्रसिद्ध है। यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि नरसी भक्त भी जल पीना, मक्खी उड़ाना आदि कार्य स्वयं ही करते थे, इन कार्यों को भगवान् ने कभी किया हो ऐसा इतिहास में वर्णन नहीं मिलता। 'पुत्री नानी बाई की विदाई का पत्र भगवान् के चरणों में रख कर निश्चिन्त हो गये', 'पुत्री का मायरा भगवान् ने भरा', 'पुत्र के विवाह का सारा कार्य भगवान् ने किया' इत्यादि कुछ घटनाओं को छोड़ कर नरसीजी भी जीविका के कार्य करते ही थे, अन्यथा उन्होंने पिता के श्राद्ध के लिए कर्ज क्यों लिया था ?

गम्भीरता से विचार करके देखा जाये तो जैसे स्वयं पानी पीने, मक्खी उड़ाने में समर्थ बालक 'मातृशरणागति में बाधा न आ जाये' इस भाव से २-४ दिन के असमर्थ बालक की भांति यदि स्वयं पानी न पीये, मक्खी न उड़ाये इन कार्यों के लिए भी माता के ही आश्रित रहे तो वह बालक माता के प्यार का नहीं, किन्तु फटकार का ही पुरस्कार पाता है। वैसे ही 'भगवान् की शरणागति में बाधा न आ जाये' इस भाव से जीविका के कार्य करने में समर्थ होकर भी जो उन्हें नहीं करता, उनको भगवान् के ऊपर ही लाद देता है, उस भक्त को भी भगवान् का प्यार नहीं, किन्तु फटकार का पुरस्कार ही मिलेगा।

समाधान—आप का कथन सत्य है, तो भी निवृत्तिप्रधान, भजन-ध्यानपरायण भक्त यदि अन्न-उत्पादन, अर्थ-उपार्जन आदि जीविका के कार्य न करके यथासम्भव अपनी योग्यतानुसार अधिक से अधिक भगवान् के आश्रित रहता है, तो उस भक्त को भक्तवत्सल कृपासागर का प्याररूप पुरस्कार ही प्राप्त होगा फटकार नहीं। इसका कारण यह है कि भगवान् की आज्ञा का अतिक्रमण ही फटकार मिलने में कारण होता है। उसने आज्ञा का अतिक्रमण किया ही नहीं, अतः फटकार क्यों मिलेगी? हाँ, यदि प्रवृत्ति-परायण भक्त वैसा करता है तो आज्ञा का अतिक्रमण होने के कारण फटकार मिले यह हो सकता है। निवृत्तिपरायण साधक के लिए तो भगवान् ने स्पष्ट कहा है कि आशा-रहित सर्व-परिग्रहत्यागी साधक केवल शारीरिक कर्म करता हुआ पाप का भागी नहीं होता। देखिये गीता ४।२१—

'निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥'

शङ्का—विश्वम्भर होने के कारण भगवान् अभक्तों का भी भरण-पोषण करते ही हैं, ऐसी दशा में अनन्यभक्त का भरण-पोषणरूप योग-क्षेम यदि वहन करते हैं तो क्या विशेष कर देते हैं।

समाधान—जो अनन्यभक्त नहीं, उनके भरण-पोषण में अधिक से अधिक उनके द्वारा किये गये पुरुषार्थ को माध्यम बनाकर भरण-पोषण करते हैं,

किन्तु जो अनन्यभक्त हैं उनके भरण-पोषण में दूसरों के तथा अति आवश्यक होने पर अपने पुरुषार्थ को माध्यम बनाकर योगक्षेम वहन करते हैं, यही निवृत्तिपरायण भक्त के भरण-पोषण में विशेषता है।

वस्तुतः शरीर का भरण-पोषण-रूप योगक्षेम वहन करना तो गौण अर्थ है, मुख्य अर्थ तो भगवत्प्राप्ति और उसके लिए उपयोगी सन्त-महापुरुषों का सत्संग प्राप्त कराना और उसे बाधाओं से बचाकर सुरक्षित रखना ही है।

शङ्का—'अनन्यः' न अन्यः=अनन्यः अर्थात् 'भगवान् को छोड़कर अन्य कुछ है ही नहीं, इस भाव से सर्वरूप में भगवान् का भजन करते हैं, ऐसा अर्थ किया गया है। उसमें यह शङ्का होती है कि घट, पट आदि पदार्थ विनाशी और अचेतन हैं, कुत्ता, मनुष्यादि प्राणी चेतन होने पर भी असमर्थ, राग-द्वेष आदि दोषों से युक्त हैं, किन्तु भगवान् अविनाशी, चेतनों के भी चेतन, सर्व-समर्थ, रागद्वेषादिसर्वदोषविनिर्मुक्त हैं। इसलिए भगवान् के लक्षणों से सर्वथा विरुद्धलक्षणवाले घट, पट पदार्थ और कुत्ता, मनुष्यादि प्राणी भगवान् से भिन्न=अन्य ही सिद्ध होते हैं, अतः 'भगवान् को छोड़कर अन्य कुछ है ही नहीं' यह कथन ठीक नहीं, इसलिए सर्वरूप में भगवान् का भजन करना भी संभव नहीं।

'यदि भगवान् को छोड़ कर कुछ है ही नहीं' तब तो भक्त भी भगवान् ही होगा, ऐसी दशा में भगवान् की प्राप्ति के लिए भगवान्‌रूप भक्त भगवान् का भजन करता है, यही कहना होगा, किन्तु यह कथन तो उन्मत्त-प्रलाप ही होगा। सर्वरूप में भगवान् को देखनेवाला या भजन करनेवाला कोई हुआ हो ऐसा इतिहास में भी सुनने को नहीं मिलता। यदि कहें कि नामदेवजी ने कुत्ता तथा अग्नि के रूप में भी भगवान् को देखा ही था। यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि वह एक भावात्मक क्षणिक आवेशमात्र था।

यदि उसे वास्तविक मानने का कोई आग्रह करे तो उसे बताना चाहिए कि उन्हें सदा ही सभी कुत्तों और अग्नियों में भगवान् का दर्शन क्यों नहीं होता था? यदि कहें होता ही था तो सभी कुत्तों के लिए सदा रोटी लेकर

क्यों नहीं दौड़े ? और वस्त्रों तथा रोटी में तो भगवान् को नहीं देखा, तभी उनको कुत्तेरूप भगवान् को खिलाया, वस्त्रों को आग में जलाया। अपने को तो भगवान् रूप में कभी भी नहीं देखा, देखना संभव भी नहीं, क्योंकि तब तो उपास्य-उपासक-भेदभाव से होनेवाली उपासना ही संभव न हो सकेगी। अतः 'वासुदेवः सर्वमिति' 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' इत्यादि श्रुति-स्मृति-वचनों का कुछ दूसरा ही अर्थ होना चाहिए, वह अर्थ क्या हो सकता है ? सो बताने का कष्ट करें।

समाधान—आपका कथन सत्य तथा विचारयुक्त है। नामदेव का कुत्ते तथा अग्नि आदि रूप में भगवान् को देखना भले ही भावात्मक क्षणिक आवेशरूप ही हो, तो भी निरादरयोग्य नहीं, किन्तु समादरयोग्य ही है; क्योंकि ऐसा भावात्मक क्षणिक आवेश भी सत्त्वगुण की अति-उत्कृष्टता के बिना हो नहीं सकता।

भक्त (जीव) अपनी साधक-अवस्था में ही नहीं सिद्ध-अवस्था में भी भगवान् (ईश्वर) नहीं हो सकता, क्योंकि सिद्धावस्था में भी ईश्वर के साथ केवल भोगमात्र की समानता ही होती है, जगत्-रचना करने की सामर्थ्य नहीं आती, ऐसा 'जगद्व्यापारवर्जम्' (ब्र० सू० ४।४।१७) तथा 'भोगमात्र-साम्यलिङ्गाच्च (ब्र० सू० ४।४।२१) में व्यास भगवान् ने स्पष्ट कहा है। जीव-ईश्वरभेदवादी भाष्यकार श्रीरामानुजाचार्यजी ने ही नहीं, किन्तु अभेद-वादी श्रीशंकराचार्यजी ने भी इन सूत्रों के भाष्य में जीव-ईश्वर के वाच्यार्थों में भेद ही माना है, अभेद तो लक्ष्यार्थों में ही माना है। अतः उपासक भक्त उपास्य भगवान् से भिन्न ही होता है, आपका यह कथन सूत्र, भाष्य तथा विचार से सम्मत होने से सत्य है।

घट, पट आदि अचेतन विनाशी पदार्थ भी चेतन अविनाशी ईश्वर से वस्तुतः अभिन्न नहीं हो सकते, इसलिए अभेदवादी श्रीशंकराचार्यजी ने भी 'वासुदेवः सर्वमिति' 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' आदि अभेदप्रतिपादक श्रुति-स्मृतियों का अर्थ करते हुए बाधसामानाधिकरण्यरूप गौण अभेद ही माना है, मुख्य अभेद

नहीं माना, अर्थात् श्रीशंकराचार्य के मत में अध्यस्त घट, पटादि जड़ पदार्थ अधिष्ठान चेतन ब्रह्म की सत्ता से भिन्न सत्तावाले नहीं, यह अर्थ उक्त श्रुति-स्मृतियों का है। श्रीरामानुजाचार्य आदि के मत में घट, पट आदि जड़ पदार्थ और जीव स्वतन्त्र प्रवृत्ति-निवृत्ति अनर्ह (अयोग्य) होने के कारण ईश्वर से भिन्न नहीं, यह अर्थ उक्त श्रुति-स्मृति वचनों का है।

तीसरा प्रकार

'तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्धय च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामिवैष्यस्यसंशयम् ॥'

अर्थ—इसलिए सब समय में मेरा स्मरण करो और युद्ध भी करो, इस प्रकार मुझमें अर्पित मन-बुद्धिवाले तुम निःसन्देह मुझे ही प्राप्त होओगे।

शङ्का—युद्ध जैसा कार्य जिसमें अनेकों शत्रुओं के प्रहार का परिहार सजगतापूर्वक करना पड़ता है, उस युद्ध को भी करता रहे और हर समय हरि का स्मरण करता रहे यह सर्वथा असम्भव है, क्योंकि एक काल में युद्धाकार और हरिस्मरणाकार इन दो वृत्तियों का होना असम्भव है।

समाधान—धारणा, ध्यान, समाधि तथा स्मरण के भेद को ठीक-ठीक समझ लेने पर ही उक्त शङ्का का ठीक समाधान हो सकेगा, अतः प्रथम इसी का विवेचन किया जाता है। योगसूत्र में इनके लक्षण इस प्रकार बताये हैं—

'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।' (३।१)
'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।' (३।२)
'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।' (३।३)

अर्थ—किसी एक देश में चित्त को ठहराना धारणा है। उसी में वृत्ति का एकतार चलना ध्यान है। जब उस ध्येय अर्थमात्र की प्रतीति होती है और चित्त स्वरूपशून्य सा हो जाता है, तब समाधि होती है।

इन तीनों में अन्याकार वृत्ति की गुञ्जाइस न होने कारण युद्ध जैसा महान् कार्य ही नहीं, किन्तु जलपान जैसा क्षुद्र कार्य भी नहीं हो सकता। स्मरण का अर्थ तो होता है 'अनुभूत विषय की याद आना' ऐसा ही योगसूत्र १।११ में कहा है 'अनुभूतविषयासम्प्रमोषः'। अतः स्मरण में अन्याकार वृत्ति

की गुञ्जाइश होने के कारण दूसरे कार्य भी हो सकते हैं। यही कारण है कि सभी लोग व्यवहार में ऐसा अनुभव करते हैं कि वे हाथ, पैर आदि द्वारा अपने कार्य भी करते रहते हैं और किसी प्रिय का स्मरण भी करते रहते हैं। उसके आने पर कहते हैं कि जब से आप गये तब से अब तक ३-४ वर्ष बराबर आप की याद आती रही। कहने का तात्पर्य यह है कि भगवान् ने धारणा, ध्यान और समाधि के साथ युद्ध करने को कहा होता तब तो असम्भव होता, क्योंकि इनमें अन्याकार वृत्ति की गुञ्जाइश नहीं होती। स्मरण में अन्याकार वृत्ति की भी गुञ्जाइश होने के कारण युद्धादि अपना-अपना कार्य तथा हरिस्मरण करना सम्भव ही है, असम्भव नहीं।

चौथा प्रकार

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥' (गी० १८।६६)

अर्थ—सभी धर्मों को छोड़ कर मेरी शरण में आ जाओ, मैं तुम्हें सभी पापों से छुड़ा दूंगा, शोक मत करो।

इस श्लोक में स्वरूपतः सर्वधर्म-परित्याग की बात नहीं कही गई, क्योंकि अर्जुन ने स्वरूपतः स्वधर्म युद्ध का परित्याग नहीं किया, इससे स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ सर्वधर्म-परित्याग का तात्पर्य उनके फलों का या उनसे कल्याण की आशा का परित्याग करने में ही है।

'मामेकं शरणं व्रज' का तात्पर्य भी भगवान् के अधीन होकर उनकी आज्ञा का पालन करने में ही है, क्योंकि अर्जुन ने 'करिष्ये वचनं तव' कहकर उसी की पुष्टि की है। इतना ही नहीं, किन्तु पृथ्वी में धँसे रथ के चक्के को निकालने में लगे भूमि पर खड़े कर्ण पर बाण चलाना धर्मयुद्धविरुद्ध होने पर भी भगवान् की आज्ञा से बाण चलाकर अर्जुन ने उसी का पालन भी किया है। इससे भी उसी अर्थ की पुष्टि होती है।

वेदान्त के आद्य आचार्य श्रीशंकराचार्यजी ने तो इस श्लोक में कर्मयोग निष्ठा की फलभूता ज्ञाननिष्ठा का उपसंहार मानकर ज्ञानपरक अर्थ किया है, किन्तु वेदान्त के अन्तिम आचार्य श्रीमधुसूदनाचार्य ने तो शङ्करानुयायी होकर भी

कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों की साधनभूता तथा दोनों की फलभूता भक्तिनिष्ठा का ही उपसंहार माना है और शंकराचार्य का तिरस्कार न करते हुए केवल इतना ही कहा है कि भगवान् शंकराचार्य के अभिप्राय का वर्णन करने में हम बेचारे क्या हैं ? मधुसूदनजी की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

'भगवद्भक्तिनिष्ठा तु उभयसाधनभूता उभयफलभूता च भवति इति अन्ते उपसंहृता 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' इत्यत्र। भाष्यकृतस्तु 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इति सर्वकर्मसंन्यासानुवादेन, 'मामेकं शरणं व्रज' इति ज्ञाननिष्ठा उपसंहिता इत्याहुः। भगवदभिप्रायवर्णने के वयं वराकाः ?'

श्रीरामानुजाचार्य-भाष्य के टीकाकार कवितार्किकसिंह वेतान्तदेशिकाचार्य वेंकटनाथजी ने तो शङ्कराचार्य का तिरस्कार करते हुए कहा कि शङ्कराचार्य-जी ने इस श्लोक में कर्मयोगनिष्ठा का फल सम्यग्दर्शनरूप ज्ञान का वर्णन माना है यह भी तामसी बुद्धि का एक उदाहरण है। वेंकटनाथजी की पंक्ति इस प्रकार है—

'अयमपि 'सर्वार्थान् विपरीतांश्च' इत्यस्योदाहरणविशेषः'।

अनुष्ठान करना शक्य हो, पूर्वापरप्रकरण तथा श्रुति-सूत्रों के अनुकूल हो, विचारसम्मत हो, इस प्रकार पूर्वप्रदर्शित रीति से गी० ९।३४, ११।५५, १२।६, १८।६५, श्लोकों में कथित भक्ति-प्रकारों का भी अर्थ स्वयं लगा लेना चाहिए।

पूर्ण निष्कामता की कसौटी

(१) कुछ भक्त प्रारम्भ में सकाम होते हैं, किन्तु अन्त में निष्काम हो जाते हैं, जैसे भक्त विभीषण। उन्होंने स्वयं कहा है—

'उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥'

(२) कुछ भक्त प्रारंभ में निष्काम होते हैं, अन्त में सकाम हो जाते हैं, जैसे प्रतापभानु। देखिये प्रारम्भ में—

'हृदय न कछु फल अनुसन्धाना। भूप विवेकी परम सुजाना।
करइ जे धरम करम मन बानी। बासुदेव अर्पित नृप ज्ञानी॥'

अन्त मैं—'जरामरण दुःख रहित तनु समर जितै जनि कोउ।
एकछत्र रिपुहीन महि राज कलप शत होय।'

(३) कुछ भक्त कामना होने पर उनकी पूर्ति भगवान् से ही चाहते हैं, जैसे भक्त नारद। देखिये—विश्वमोहनी कन्या पाने के लिए कहते हैं—

'मेरे हित हरि सम नहिं कोऊ। एहि अवसर सहाय सोइ होऊ॥
जेहि विधि नाथ होइ हित मोरा। करहु सो वेगि दास मैं तोरा।'

इनमें से पहले भक्त का कल्याण होना निश्चित ही है, 'दिन में भूला शाम को घर आ जाये तो भूला नहीं कहाता' लोक में प्रसिद्ध इस कहावत के अनुसार तथा 'अन्तमति सो गति' इस नियम के अनुसार वह निष्काम भक्त ही है। भगवान् के ही आश्रित रहने के कारण तीसरे भक्त का भी अकल्साण नहीं होता, केवल कल्याणप्राप्ति में कुछ विलम्ब ही होता है। इसका एक-मात्र कारण यह है कि भगवान् उसकी कामना की पूर्ति या निवृत्ति इस प्रकार कर देते हैं जिससे अन्त में वह निष्काम भक्त वन कर कल्याण का भाजन बन जाता है। यही कारण हैं कि सकाम कर्म की अपेक्षा सकाम भक्ति को श्रेष्ठ माना गया है, इसका विशेष विवेचन 'सकाम-भक्तियोग' नाम के लेख में देखना चाहिए।

दूसरा भक्त कामना-पूर्ति के लिए भगवदाश्रित न होने के कारण दुर्गति का भागी वन जाता है। राजा प्रतापभानु ने यदि एकछत्र अकण्टक राज्य न माँग कर भगवान् की भक्ति का वरदान कपटी मुनि से माँगा होता तो कपटी मुनि कोटि-कोटि कपट करके भी राजा की दुर्गति कराने में समर्थ न होता, अथवा राजा ने अपनी कामना की पूर्ति भगवान् से ही चाही होती तो दुर्गति न होती। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजा प्रतापभानु की दुर्गति में भगवद्अनाश्रित दूषित लौकिक कामना ही हेतु है, अन्य कुछ नहीं। अतः जो लोग ऐसा समझते हैं कि राजा प्रतापभानु पूर्ण निर्दोष थे तो भी उनकी दुर्गति हुई, ऐसा समझना उन लोगों का ठीक नहीं। राजा प्रतापभानु की कथा साधक को सावधान करती हुई यह शिक्षा देती है कि प्रथम निष्काम होकर

भी अन्त में सकाम होना तथा कामना की पूर्ति भगवान् से न चाह कर अन्य से चाहना भयङ्कर दुर्गति का कारण हो सकता है। अतः साधक को पूर्ण निष्काम भाव से ही भगवद्भक्ति करनी चाहिए।

निरन्तर रहने योग्य सर्वोत्कृष्ट अन्तिम निवास स्थान का कथन करते हुए महामुनि वाल्मीकिजी ने पूर्ण निष्कामता की कसौटी इस प्रकार बताई है—

'जाहि न चाहिय कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेह।
बसहु निरन्तर तासु मन सो राउर निज गेह॥'

इस दोहे में 'कबहुँ' और 'कछु' ये दो पद ध्यान देने योग्य हैं, 'कबहुँ' पद यह कह रहा कि साधन के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में किसी वस्तु की कामना नहीं होनी चाहिए, एवं 'कछु' पद कह रहा है कि प्रतापभानु की तरह एकछत्र निष्कण्टक राज्य जैसी महान् वस्तु की भी कामना नहीं होनी चाहिए। ऐसा होने पर ही भगवान् में सहज स्नेह होगा, तभी भगवान् निरन्तर निवास करेंगे। दूसरे के घर में निरन्तर कोई नहीं रहता, इसलिए मुनि उसे भगवान् का 'निजगेह' अर्थात् अपना घर बताते हैं।

केवट की पूर्ण निष्काम भक्ति

भक्तराज केवट भगवान् की सेवा करने से पूर्व तथा अन्त में भी कुछ नहीं चाहता, वह प्रारंभ में स्पष्ट शब्दों में कहता है—

'पद कमल धोइ चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई चहौं।'

मध्य में नौका रोक यह नहीं कहता कि यह लूंगा तब पार करूंगा और पार कर देने के बाद अन्त में भी कुछ नहीं माँगता। इतना ही नहीं, किन्तु भगवान् के द्वारा आग्रहपूर्वक स्वयं देने पर भी कुछ नहीं लेता। भीतर से चाहना हो बाहर से त्याग दिखाता हो सो भी नहीं, वह तो स्पष्ट कहता है—

'अब कछु नाथ न चाहिअ मोरें। दीनदयाल अनुग्रह तोरें।'

यहाँ 'अब' और 'कछु' ये दो पद ध्यान देने योग्य हैं। प्रतापभानु पहले नहीं चाहता था अन्त में चाहने लगा, छोटी वस्तु नहीं किन्तु निष्कंटक राज्य चाहता है। किन्तु भक्तराज केवट पहले भी नहीं चाहता और 'अब' अन्त

में भी नहीं चाहता, छोटी वस्तु नहीं किन्तु कोटि कोटि ब्रह्माण्ड की सम्पत्ति की प्रतीकरूपा जगज्जननी माता सीता के करकमल की मनोहर मुद्रिका जैसी महान् वस्तु भी नहीं चाहता। इस महान् त्याग में अपने विवेक, वैराग्य या ज्ञान को नहीं किन्तु भगवान् के अनुग्रह को ही हेतु मानता है। अनुग्रह में भी अपनी साधना को नहीं किन्तु भगवान् की दीनदयालुता को ही कारण मानता है।

महामुनि वाल्मीकिजी द्वारा कथित निष्कामता की कसोटी में कस कर परीक्षित पूर्ण निष्काम भक्ति से प्रभावित भक्तवत्सल भगवान् भक्तराज केवट को उसके माँगे विना स्वयं उस निमल भक्ति का वरदान देते हैं, जिस भक्ति का वरदान भगवान् ने महामुनियों के माँगने पर भी नहीं दिया।

पूर्ण निष्काम भक्त प्रह्लाद

हम सव साधक प्रायः निष्काम भाव से भक्ति करेंगे ऐसा भाव रखकर भजन करना प्रारंभ करते हैं, परन्तु महान् प्रलोभन या महान् भय के स्थान आने पर प्रायः विचलित हो जाते हैं। जैसे महान् प्रलोभन भक्तराज केवट के मन को जरा भी चलायमान न कर सका, वैसे ही महान् भय भक्तराज प्रह्लाद के मन को जरा भी चलायमान न कर सके। इतना ही नहीं, किन्तु जव प्रह्लाद से भगवान् ने स्वयं ही वरदान माँगने को कहा तव प्रह्लाद ने जो कुछ कहा है वह निष्कामता की चरम सीमा है, जो हम लोगों को निष्कामता की शिक्षा देती है, इसलिए वे श्लोक अर्थ सहित यहाँ दिये जाते हैं—

प्रह्लाद उवाच

'मा मां प्रलोभयोत्पत्त्याऽऽसक्तं कामेषु तैर्वरैः।
तत्सङ्गभीतो निर्विण्णो मुमुक्षुस्त्वामुपाश्रितः॥
भृत्यलक्षणजिज्ञासुर्भक्तं कामेष्वचोदयत्।
भवान् संसारवीजेषु हृदयग्रन्थिषु प्रभो॥
नान्यथा तेऽखिलगुरो घटेत करुणात्मनः।
यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्य स वै वणिक्॥

आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः ।।
न स्वामी भृत्यतःस्वाम्यमिच्छन् यो राति चाशिषः ।।
अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रयः ।
नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव ।।
यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम् ।।'
(भागपु० ७।१०।२—७)

अर्थ—प्रह्लाद ने कहा—हे प्रभो ! मैं जन्मजात स्वभाव से ही कामों में आसक्त हूँ, उनके सङ्ग से डरा, उकताया, उनसे मुक्त होने की इच्छा से आप की शरण में आया हूँ, अतः उनके वरदानों से मुझे प्रलोभित न कीजिए। मुझ-में भक्त (पेवक) का लक्षण है या नहीं, यह जानने के लिए ही आपने हृदय में ग्रन्थि डालनेवाले संसार के कारणरूप कामनाओं का वरदान माँगने की प्रेरणा की है । अन्यथा हे अखिल संसार के दयालु गुरु ! आप के द्वारा ऐसा करना संभव नहीं । जो आप से कामनापूर्ति की आशा रखता है वह सेवक नहीं वनियाँ है । जैसे स्वामी से अपनी कामनाओं की पूर्ति चाहनेवाला सेवक नहीं हो सकता, वैसे ही सेवक से सेवा की इच्छा करके जो सेवक की कामना पूरी करता है, वह स्वामी नहीं हो सकता । मैं आप का निष्काम भक्त हूँ और आप भी कुछ न चाहनेवाले मेरे स्वामी हैं । हम दोनों का राजा और सेवक की तरह अन्यथा अर्थात् स्वार्थमूलक सम्बन्ध नहीं है। हे वरदान शिरोमणि ! यदि आप इच्छानुसार वरदान प्रदान करना ही चाहते हैं, तो मैं आप से यही वरदान माँगता हूँ कि मेरे हृदय में कामना का कभी उदय ही न हो ।

सारांश—प्रायः निवृत्तिपरायण साधकों के लिए वर्तमान समय में निष्काम भक्तियोग ही कल्याणकारी है, क्योंकि यदि उनकी कर्मों में अधिक आसक्ति होती तो निवृत्तिपरायण ही न हो सकते, 'पूर्ण वैराग्य नहीं' ऐसा वे स्वयं अनुभव करते ही हैं। ऐसी दशा में लेख के प्रारंभ में उल्लिखित भाग० ११।२०।८ श्लोक के अनुसार उनके लिए निष्काम भक्तियोग ही कल्याण-कारी होने के कारण विस्तार से इसपर विचार किया गया है ।

भक्ति करने के प्रकार बतलानेवाले कुछ श्लोकों का अर्थ इस प्रकार किया गया है कि जिससे उसका अनुष्ठान करना शक्य हो, पूर्वापरप्रकरण तथा श्रुति-स्मृति-सूत्र-सम्मत विचार युक्त हो। भगवान् की प्राप्ति में साक्षात् या परम्परा से सहायक सन्तमिलन, स्वस्थ जीवन आदि की कामनाओं को निष्काम भक्ति में बाधक नहीं माना जाता। साधना के आदि, अन्त, मध्य में 'कभी भी' 'कुछ भी' न चाहना ही पूर्ण निष्कामता है। इस पूर्ण निष्कामता के न होने के कारण ही प्रतापभानु का पतन हुआ था तथा पूर्ण निष्कामता होनेके कारण ही भक्तराज केवट को बिना माँगे ही दुर्लभ विमल भक्ति का वरदान मिला था और भक्तराज प्रह्लाद के वचन हम लोगों के लिए पथप्रदर्शक बने।

सकाम भक्तियोग

जैसे दो व्यक्ति देवदत्त और यज्ञदत्त ज्योतिर्मठ में रहते हैं। उनमें से यज्ञदत्त के मन में बद्रीनाथजी के दर्शन की इच्छा ही नहीं। देवदत्त के मन में इच्छा है, दर्शन के लिए चल भी पड़ता है, प्रतिदिन १० मील चलता है, १० दिन में १०० मील चल चुका है, दक्षिण दिशा में चल पड़ने के कारण १००+१८= ११८ मील बद्रीनाथ से दूर हो गया है। यद्यपि दूरी की दृष्टि से देखा जाये तो घर में बैठा यज्ञदत्त बद्रीनाथजी से केवल १८ मील ही दूर है और देवदत्त ११८ मील दूर है तथापि दर्शनप्राप्ति की दृष्टि से देखा जाये तो यज्ञदत्त ही अधिक दूर है, क्योंकि उसके मन में दर्शन की इच्छा ही न होने के कारण वर्षों बीत जाने पर भी दर्शन न होंगे। देवदत्त ११८ मील दूर हो जाने पर भी जल्दी दर्शन कर लेगा, क्योंकि उसे चलने का अभ्यास तो हो ही गया है, दर्शन की तीव्र लालसा भी है। किसी दयालु के द्वारा उत्तर की दिशा में ठीक मार्ग का निर्देश कर देने पर वह यथासम्भव शीघ्र दर्शन कर लेगा।

वैसे ही सकाम भाव से शास्त्रविहित कर्म तथा भक्ति करनेवाले साधक भी अधिक सांसारिक भोगों की कामना की दृष्टि से कम कामनावालों की अपेक्षा निम्नकोटि के कहे जायेंगे, तो भी कल्याण-प्राप्ति की दृष्टि से उच्चकोटि के ही कहे जायेंगे। इसका कारण यही है कि उन साधकों को शास्त्रविहित कर्म तथा भक्ति करने का अभ्यास तो हो ही जाता है, जब किसी सन्त के सत्संग से उनकी सकामता का भङ्ग हो जायगा तब अतिशीघ्र कल्याण की प्राप्ति उन्हें हो जायेगी। किन्तु कम कामनावाले के हृदय में कल्याण की इच्छा का भी उदय न होने के कारण कब तक कल्याण की प्राप्ति न होगी, यह नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि सकाम कर्म और भक्ति भी परम्परा से कल्याणकारी होने से शास्त्रों में उनका प्रतिपादन किया गया है।

सकाम कर्मयोग की अपेक्षा भक्तियोग शीघ्र तथा निःसन्देह कल्याणकारी

है। इसका कारण यह है कि सकाम भक्तियोग के भक्त साधक का कल्याण-कारी भक्तहितकारी भक्तवत्सल भगवान् के साथ सम्बन्ध हो जाता है, इसलिए भगवान् जिस विधान से भक्त का शीघ्र कल्याण हो उसे सम्पादन कर देते हैं। यदि भक्त के हृदय में सकाम भाव अति सुदृढ़ नहीं, तो उसे विवेक-प्रदान करके मिटा देते हैं। इसके लिए प्रायः सन्त महापुरुष के सत्संग को माध्यम बनाते हैं। इससे सकाम भाव मिटने के साथ एक बड़ा लाभ यह होता है कि 'मैंने स्वयं विवेक द्वारा सकाम भाव को मिटा डाला' ऐसा अभिमान उदित नहीं होता। कभी कभी किसी ग्रन्थ के माध्यम से या अन्तर्यामी रूप से अन्तःकरण में प्रेरणा करके भी विवेक ज्ञान प्रदान कर देते हैं। स्वयं साक्षात् प्रकट होकर तो बहुत कम ही करते हैं।

यदि भक्त के हृदय में सकाम भाव अतिशय सुदृढ़ हो तो उसकी इस प्रकार से पूर्ति करते हैं जिससे भगवान् के प्रति अनुराग और कामना से वैराग्य का उदय हो जाता है। उदाहरण के लिए देखिए—जैसे एक अत्यन्त लोभी व्यक्ति पैसा लिये बिना किसी का कोई जरा सा भी काम नहीं करता। एक दूरदर्शी मनो-विज्ञानवेत्ता उदार महापुरुष ने उसके लोभ को मिटाने का यह उपाय निकाला कि जब जिस काम के लिए जितने पैसे माँगता, काम करा लेने के बाद तब उससे अधिक पैसे दे देते। दो चार बार ऐसा उदार व्यवहार देखकर उसने पैसा माँगना बन्द कर दिया। इतना ही नहीं, किन्तु उनसे इतना प्रभावित हुआ कि एक बार उनके बीमार होने पर जितना पैसा उसके पास था सब उनकी सेवा में न्योछावर कर दिया।

वैसे ही उदार प्रभु लगातार अनेकों बार भक्त की इच्छा के अनुसार ही नहीं, किन्तु अधिक देकर जब कामना की पूर्ति करते रहते हैं, तब भक्त उनकी भक्तवत्सलता तथा सरलता से इतना प्रभावित हो जाता है कि सदा के लिए कामना का परित्यागी तथा प्रभु के चरणों का अनुरागी हो जाता है। इस प्रकार सकाम भाव से किया गया भजन-ध्यानरूप भक्ति का प्रवाह निष्काम भाव के कल्याणकारी सुमार्ग में प्रवाहित हो जाता है, जिससे भक्त का निः-सन्देह अतिशीघ्र कल्याण हो जाता है। सकाम कर्मयोग के साधक का भगवान्

से सम्बन्ध न होने के कारण शीघ्र या निःसन्देह हो ही जायेगा यह नहीं कहा जा सकता। सकाम कर्मयोग की अपेक्षा ही नहीं, किन्तु सकाम भाव से की गई अन्य देवताओं की उपासना से भी भगवान् की उपासना में यही विशेषता है कि अन्त में भगवान् की भी प्राप्ति हो जाती है—

'देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।' (गी० ७।२३)

ऐसा होने पर भी भगवान् की उपासना को छोड़कर मनुष्य अन्यान्य देवताओं की उपासना क्यों करते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् ने स्वयं ही दिया है कि इस मनुष्य-लोक में कर्मों की सिद्धि चाहते हुए लोग देवताओं की उपासना करते हैं, क्योंकि उनको सिद्धि शीघ्र मिल जाती है—

'काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥' (गी० ४।१२)

भाव यह है कि देवता तो मिठाई की दूकान करनेवाले हलवाई की तरह हैं। जैसे हलवाई मिठाई खरीदनेवाले बालक से पूरा पैसा मिलने पर मिठाई तुरन्त दे देता है, मिठाई खाने से बालक का हित होगा या अहित होगा, इससे उसको कोई मतलब नहीं। वैसे ही देवता विधि-विधान से उपासना पूरी होने पर तुरन्त फल दे देते हैं, इससे मनुष्य का हित होगा या अहित होगा, इससे उन्हें कोई प्रयोजन नहीं। परन्तु भगवान् तो उस हलवाई की तरह हैं जो बालक के पिता होने कारण मिठाई खाना हितकर हो तो बालक को मिठाई दे, गोद में उठा कर प्यार भी करे और पैसा भी न ले। यदि रोगी होने के कारण मिठाई खाना अहितकर हो तो पैसा भी ले लेवे, मिठाई भी न दे और दुराग्रह करने पर चपत भी लगा दे।

भगवान् भी हितकारी कामना की पूर्ति करते हैं, अहितकारी की नहीं। इतना ही नहीं, किन्तु यदि भक्त के विकास में बाधक हो रही हो तो कृपा कर के प्राप्त धनादि वस्तु का हरण भी कर लेते हैं। भागवत में स्पष्ट कहा है—

'यस्याऽमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।'

(भाग० १०।८८।८)

कहने का तात्पर्य यह है कि विधि पूरी होने पर देवताओं से फल प्राप्ति सुनिश्चितरूप से होती है, भगवान् से हितकारी होने पर ही फल-प्राप्ति होती है अन्यथा नहीं भी होती, इसलिए फलाग्रही लोग भगवान् को छोड़कर अन्य देवताओं की उपासना करते हैं। इसके अतिरिक्त जो लोग सुकृती अर्थात् पुण्य कर्म करनेवाले=पुण्यात्मा होते हैं उन्हीं की भगवद्भक्ति में प्रवृत्ति होती है, पापात्मा की नहीं। इसी लिए गीता तथा रामायण में चारों प्रकार के भक्तों को सुकृती कहा है—

'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतियनोऽर्जुन।'

(गी० ७।१६)

'रामभगत जग चार प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा ॥'

यद्यपि गम्भीरता से विचारपूर्वक देखा जाये तो आर्त और अर्थार्थी रूप सकाम साधकों को भगवान् के भक्त न कह कर संसार के भक्त ही कहना चाहिए, क्योंकि उनकी भक्ति अर्थात् प्रीति मुख्यरूप से भगवान् में नहीं, किन्तु सांसारिक पदार्थ में है। भगवान् को तो उसने उस पदार्थ की प्राप्ति का साधन बना रखा है, अतः भले ही भगवद्गुणगान करते समय उसका गला रुक जाता हो, नेत्रों से आँसुओं की धारा बहती हो, रोमाञ्च हो जाता हो, तो भी उसे भगवान् का भक्त वैसे ही नहीं कहा जा सकता जैसे इकलौते पुत्र की रक्षा में एकमात्र समर्थ वैद्य के सामने खड़े अश्रुपात आदि लक्षणों से युक्त प्रार्थना करते हुए व्यक्ति को वैद्य का भक्त नहीं कहा जाता, किन्तु पुत्र की भक्ति अर्थात् प्रीतिवाला ही कहा जाता है। तथापि किसी प्रकार से भजन किया हो, भगवान् के साथ सम्बन्ध जोड़ने के कारण उसे भगवद्भक्त कहना अनुचित नहीं। इतना ही नहीं, किन्तु भगवत्कृपा से वह शीघ्र ही सच्चे अर्थों में भी भगवद्भक्त बन जाता है, अतः भविष्यद्वृत्ति से भी उसे भगवद्भक्त कहा ही जा सकता हैं। अतः जो प्रारंभ से ही निष्काम भक्ति करने में असमर्थ हैं, उनके लिए सकाम भक्ति भी हितकारी ही हैं।

●

निष्काम ज्ञानयोग

ज्ञानयोग के साथ 'निष्काम' विशेषण लगा देखकर पाठकों को अनोखापन प्रतीत होगा, क्योंकि कर्मयोग और भक्तियोग के साथ ही 'निष्काम' विशेषण लगा हुआ प्रायः पढ़ने को मिलता है। तो भी 'निष्काम' विशेषण ज्ञानयोग के साथ देना भी आवश्यक प्रतीत होता है; क्योंकि वर्तमान काल में ही नहीं, प्राचीन काल में भी धनोपार्जन, राजकीय मानसम्मान के सम्पादन के लिए भी विद्वान् ज्ञानार्जन करते थे। इसी प्रकार के सकाम ज्ञानयोग से परम कल्याण की प्राप्ति नहीं होती, इसलिए ज्ञानयोग के साथ जब 'निष्काम' विशेषण होता है तभी परम कल्याण की प्राप्ति होती है। इसी लिए भागवत में ज्ञानयोग का अधिकारी उसी को बताया है जो संसार के समस्त कर्मों और उनके फलों से विरक्त है—

'निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।' (भाग० ११।२०।७)

यद्यपि 'ज्ञानयोग' शब्द का अर्थ आत्मा या परमात्मा को जान कर कल्याण-प्राप्ति करना ही है, तथापि आत्मा को जान लेने के अर्थ में ही 'ज्ञानयोग' पद का प्रयोग प्रायः मिलता है। यद्यपि कर्मयोग तथा भक्तियोग के अङ्गरूप में भी अनात्मवर्ग से पृथक् आत्मा का ज्ञान होना परमावश्यक है, तथापि यहाँ निरूपण किया जानेवाला आत्मज्ञानरूप ज्ञानयोग 'स्वरूपावस्थान-रूप मोक्ष' का साक्षात् साधन होने के कारण किसी का अङ्ग नहीं, किन्तु अङ्गी ही है।

यद्यपि आत्मस्वरूप के विषय में अणुत्व, विभुत्व, एकत्व, अनेकत्व, कर्तृत्व, अकर्तृत्व, भोक्तृत्व, अभोक्तृत्व, स्थिरत्व, अस्थिरत्व तथा ज्ञानरूपता, ज्ञानगुणता आदि अनेकों महान् विवाद हैं, इन सबपर विस्तारपूर्वक गम्भीर विचार 'सर्वदर्शनसमन्वय' नाम के ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में १२८ पृष्ठों में किया गया है। पाठक वहीं उसे देखें। तथापि 'अनात्मवर्ग से आत्मा पृथक् है' इस विषय में चार्वाक को छोड़कर किसी का विवाद नहीं।

अनात्मवर्ग से पृथक् आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए (१) श्रुति-स्मृति, (२) युक्ति तथा (३) अनुभूति इन तीन प्रमाणों का उपयोग किया जाता है—

(१) 'योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्।' (कठो० २।२।७)
'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥' (गी० २।२२)

अर्थ—अपने कर्म और ज्ञान के अनुसार देहधारण करनेवाली कितनी ही आत्माएँ देहधारण करने के लिए मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनियों को प्राप्त होती हैं और कितनी ही आत्माएँ वृक्ष, लता आदि स्थावरभाव को प्राप्त होती हैं। जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों का त्याग कर दूसरे नये शरीरों को प्राप्त होता है अर्थात् धारण करता है।

(२) जो लोग श्रुति-स्मृति को प्रमाण नहीं मानते उनके लिए उक्त श्रुति-स्मृति प्रमाण देना व्यर्थ है, उनके लिए युक्ति प्रमाण दिया जाता है। उस युक्ति का संक्षिप्त स्वरूप यही है कि एक साथ एक माता-पिता से उत्पन्न दो सन्तानों में रुग्णता, अरुग्णता, बुद्धिमत्ता, बुद्धिहीनता आदि का जो अति वैचित्र्य देखने में आता है, उसकी संगति दृष्ट कारणों से हो ही नहीं सकती। उसके लिए जन्मान्तर में किये गये शुभाशुभ-कर्मरूप अदृष्ट कारण को अवश्य मानना ही पड़ेगा। जन्मान्तर की सिद्धि शरीरादि अनात्मवर्ग से पृथक् आत्मा को मानने पर ही होगी, अन्यथा नहीं। शरीरादि दृश्य हैं, इनका द्रष्टा आत्मा इनसे पृथक् है, क्योंकि दृश्य से द्रष्टा पृथक् होता है। इस युक्ति से भी अनात्म-वर्ग से आत्मा पृथक् सिद्ध हो जाता है।

(३) जिन लोगों का चित्त युक्ति प्रमाण से भी सन्तुष्ट नहीं होता, उन्हें

भी जन्मान्तर पर तब विश्वास करना ही पड़ता है, जब प्रमाणरूप से मान्य समाचारपत्रों से या स्वयं अपनी आँखों और कानों से जन्मान्तरसम्बन्धी बातों को स्पष्ट तथा सत्यरूप में बतानेवाले बालक और बालिकाओं के दर्शन तथा उनकी बातों के श्रवण का शुभ अवसर मिल जाता है।

यहाँ यह शङ्का होती है कि जन्मान्तरसम्बन्धी बातों के स्मरण के लिए तो योगशास्त्रसम्मत विशेष साधना करनी पड़ती है, बिना साधना के अबोध बालकों को जन्मान्तर का स्मरण कैसे हो जाता है ? इसका उत्तर महाभारत के अनुशासन पर्व में इस प्रकार दिया हुआ है कि जिन मनुष्यों की अचानक मृत्यु हो जाती है तथा पुनः तुरन्त मनुष्यरूप में जन्म हो जाता है, उनका पुराना अभ्यास कुछ काल तक रह जाता है, इसलिए जन्मान्तर का स्मरण करनेवाले ज्ञानयुक्त बालकों का जन्म होता है। बड़े होने पर उनका वह ज्ञान स्वप्न की तरह विनष्ट हो जाता है। जन्मान्तर के अस्तित्व में सन्देहयुक्त मनुष्यों के लिए ऐसी घटनाएँ परम प्रमाण होती हैं।

'ये मृताः सहसा मर्त्या जायन्ते सहसा पुनः।
तेषां पौराणिकोऽभ्यासः कञ्चित् कालं हि तिष्ठति ॥
तस्मज्जातिस्मरा लोके जायन्ते बोधसंयुताः।
तेषां संज्ञा विवर्धतां स्वप्नवत् सा प्रणश्यति।
परलोकस्य चास्तित्वे मूढानां कारणं त्विदम् ॥'

(गीताप्रेस से प्रकाशित महाभा० पृष्ठ ५९७८)

साधन के बिना होनेवाली तथा विनष्ट हो जानेवाली स्मृतिरूपा उक्त परोक्ष अनुभूति ज्ञानयोग में अधिक उपयोगी नहीं होती। इसलिए साधन द्वारा आत्माकार वृत्ति करके आत्मा की अनात्मवर्ग से पृथक् रूप में अपरोक्ष अनुभूति करने का विधान श्रुति में किया गया है 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'।

शङ्का—घटादि पदार्थों के आकार युक्त होने के कारण घटाकार आदि वृत्तियों का होना संभव है, किन्तु आत्मा में तो कोई आकार है ही नहीं, अतः आत्मा के निराकार होने कारण आत्माकार वृत्ति साधना द्वारा भी कैसे हो सकेगी ?

समाधान—आत्मा ही साधक का वास्तविक स्वरूप है। शरीरादि अनात्म-वर्ग के साथ तादात्म्य हो जाने के कारण अनात्माकार वृत्ति बनी रहती है, इसलिए आत्मा के स्वरूप की अनुभूति नहीं होती, अतः शरीरादि अनात्माकार वृत्ति का त्याग करने से ही आत्मस्वरूप का आलम्बन करनेवाली आत्माकार वृत्ति स्वयं बन जाती है। आत्मा के स्वरूप में अणुत्व, विभुत्व, ज्ञानरूपत्व, ज्ञानगुणत्व, आनन्दरूपत्व, आनन्दगुणत्व आदि का विवाद रहते हुए भी प्रायः सभी दर्शनों तथा श्रुति-स्मृतियों में अनात्माकार वृत्तियों की निवृत्ति होने पर आत्मस्वरूप का आलम्बन करनेवाली आत्माकार वृत्ति का होना माना है। देखिए, श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं—

'तस्माद् बाह्याकारभेदबुद्धिनिवृत्तिरेवात्मस्वरूपालम्बने कारणम्' (शाङ्करभाष्य गी० १८।५०) अर्थ—इसलिए वाह्य अनात्माकार भेदबुद्धि की निवृत्ति ही आत्मस्वरूप के आलम्बन में कारण है।

श्रीरामानुचार्यजी कहते हैं—'सर्वेन्द्रियव्यापारोपरतिरूपे ज्ञानयोगे' (गी० ३।४१) अर्थ—सव इन्द्रियों के व्यापार का उपराम अर्थात् अनात्माकार वृत्तियों की निवृत्तिरूप आत्मज्ञानरूप योग में।

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः', 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (यो०सू० १।२,३) अर्थ– चित्त की वृत्तियों का निरोध अर्थात् अनात्माकार न होना ही योग है। तव द्रष्टा आत्मा का अपने स्वरूप में अवस्थान हो जाता है। श्रुति में भी

'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥

(कठ० २।३।१०)

अर्थ—जिस समय पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन के सहित स्थित हो जाती हैं अर्थात् अनात्माकार का त्याग कर शान्त हो जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती, उसे परम गति कहते हैं।

इन प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि अनात्माकार वृत्ति का त्याग करना ही आत्माकार वृत्ति करना है। इस साधन से आत्मा की जैसी स्पष्ट

अपरोक्ष अनुभूति होती है, वैसी जन्मान्तर की स्मृति, युक्ति आदि पूर्वोक्त किसी भी साधन से नहीं होती। इसका कारण यह है कि अन्तर्मुखावस्था में जब शरीरादि किसी भी अनात्मपदार्थ का स्मरण भी नहीं होता उस समय होनेवाले स्वात्मस्फुरण से 'आत्मा अनात्मवर्ग से सर्वथा पृथक् है' इस परम सत्य की अपरोक्ष अनुभूति हो जाती है।

उक्त साधन द्वारा आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान हो जाने पर भी दीर्घकाल-पर्यन्त निरन्तर अभ्यास के विना ज्ञान में दृढ़ता नहीं आती। ज्ञान में दृढ़ता आये विना अनादि काल से अभ्यस्त शरीरादि अनात्मपदार्थों के साथ सुदृढ़ तादात्म्याभ्यास में शिथिलता नहीं आती। इसका मुख्य कारण यह है कि यदि शरीरादि अनात्मपदार्थों में आत्मबुद्धि केवल अज्ञान से होती तो केवल आत्म-ज्ञान से ही निवृत्त हो जाती, जब कि अज्ञान के साथ-साथ अति दीर्घकाल का अभ्यास भी शरीरादि के साथ तादात्म्याभ्यास की दृढ़ता में हेतु है, तब उसे काटने के लिए दीर्घकालपर्यन्त निरन्तर ज्ञानाभ्यास करना भी परमावश्यक है। यही कारण है कि शास्त्रों तथा आचार्यों ने अभ्यास का समर्थन किया है। देखिए—योगसूत्र में स्पष्ट कहा है—

(क) 'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः' (१।१४)

(ख) 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' (ब्र०सू० ४।१।१)

(ग) 'एवं ह्यसौ दृष्टो भवति श्रवणमनननिदिध्यासनसाधनैर्निर्वर्तितैः। यदैकत्वमेतान्युपगतानि, तदा सम्यग्दर्शनं ब्रह्मैकत्वविषयं प्रसीदति नान्यथा श्रवणमात्रेण।' (बृह० शाङ्करभाष्यं २।४।५)

अर्थ (क) वह बहुत काल तक निरन्तर और आदरपूर्वक साङ्गोपाङ्ग सेवन किया जाने पर दृढ़ता को प्राप्त होता है।

(ख) बारम्बार आवृत्ति अर्थात् अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि अनेकों बार उपदेश दिया गया है।

(ग) इस प्रकार श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन (अभ्यास) इन तीनों के सम्पन्न होने पर ही इस आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है। जिस समय

इन तीनों साधनों की एकता होती है, उसी समय ब्रह्मैकत्व दर्शनविषयक सम्यक् दर्शन का प्रसाद होता है। अन्यथा केवल श्रवणमात्र से साक्षात्कार नहीं होता।

गीता में भी ज्ञान से अज्ञान का विनाश हो जाने के बाद आत्म-निष्ठा-परायण होने पर ही मोक्षप्राप्ति बताई है—

'ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥
तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥'

(गी० ४।१६,१७)

अर्थ—जिनका वह अज्ञान आत्मा के ज्ञान द्वारा नष्ट कर दिया गया है, उनका वह ज्ञान सूर्य के समान परम पद को प्रकाशित कर देता है। जिनका मन तद्रूप हो गया है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और जो तन्निष्ठावाले तथा तत्परायण हैं, ऐसे ज्ञान से पापरहित हुए पुरुष अपुनरावृत्ति को अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

सारांश—ज्ञानशक्तिप्रधान वैराग्यवान् साधक के लिए निष्काम ज्ञानयोग ही कल्याणकारी है। अनात्माकार वृत्ति का परित्याग करने से आत्माकार वृत्ति स्वयं हो जाती है। इससे आत्मा का अपरोक्षज्ञान हो जाता है। इस ज्ञान की दृढ़ता दीर्घकालपर्यन्त निरन्तर श्रद्धापूर्वक किये गये अभ्यास से ही होती है, तभी चिरकालीन दृढ़ अनात्मतादात्म्याध्यास शिथिल हो जाता है, केवल ज्ञानमात्र से नहीं। अनुभूतिमूलक ज्ञानाभ्यास ही पूर्ण ज्ञानयोग है, इसी से अनात्मतादात्म्याध्यासरूप बन्धन से मुक्ति मिलती है।

सिद्धों के लक्षण

प्रत्येक मनुष्य में क्रियाशक्ति, भावशक्ति और ज्ञानशक्ति ये तीनों शक्तियाँ रहती हैं। इनके दुरुपयोग से ही दुःखरूप बन्धन होता है, इसमें किसी का विवाद नहीं। ऐसी दशा में इनके सदुपयोग से दुःख से मुक्ति का होना भी निर्विवाद सिद्ध हो जाता है। यही कारण है कि शास्त्रकारों ने उन तीनों शक्तियों के सदुपयोग का सम्यक् परिष्कार करके निष्काम कर्मयोग, निष्काम भक्तियोग और निष्काम ज्ञानयोग इन तीन साधनों को कल्याणकारी बताया है। सभी दर्शन शास्त्रों ने इन तीनों साधनों की आवश्यकता को स्वीकार किया है। इतना ही अन्तर है कि किसी दर्शन ने तीनों में से अमुक को मुख्य और दूसरों को गौण साधन माना है। इसपर विस्तारपूर्वक विचार 'सर्व-दर्शन-समन्वय' ग्रन्थ के तृतीय खण्ड 'साधन-साध्यवाद' में किया है, पाठक वहीं देखने का कष्ट करें।

तीनों साधनों की आवश्यकता होने पर भी पथप्रदर्शक सच्चे महापुरुष क्रियाशक्तिप्रधान साधक को निष्काम कर्मयोग का, भावशक्तिप्रधान साधक को निष्काम भक्तियोग का तथा ज्ञानशक्तिप्रधान साधक को निष्काम ज्ञान-योग का योग्यतानुसार उपदेश देते हैं। इन मार्गों का आलम्बन लेकर चलने-वाले साधक जब सिद्धावस्था को प्राप्त होते हैं तब सभी सिद्धों में यद्यपि अहंता, ममता तथा राग-द्वेष का अभाव, समता आदि लक्षण प्रायः समानरूप से विद्यमान होते हैं, तथापि योग्यताभेद, साधनकाल में किये गये अभ्यास के भेद तथा स्वभावभेद के कारण किसी में लोकसंग्रह की प्रवृत्ति, परोपकारिता, किसी में उदासीनता, उपरामता और किसी में करुणा, दीनवत्सलता आदि की प्रधानता या गौणता होती है। यही कारण है कि गीता अध्याय दो में स्थितप्रज्ञके नाम से, अध्याय बारह में सिद्धभक्त के नाम से और अध्याय चौदह में गुणातीत के नाम से पृथक् पृथक्रूप में सिद्धों के लक्षण बताये गये हैं।

सिद्धों में जो लक्षण स्वभावसिद्ध हो जाते हैं, साधकों के लिए वे साधन-साध्य होते हैं, अतः साधन में उपयोगी होने के कारण उनमें से कुछ लक्षणों पर शङ्का-समाधानपूर्वक यहाँ विचार विस्तार से किया जाता है। इसी विचार के अनुसार अन्य लक्षणों पर विचार स्वयं कर लेना चाहिए।

अहंता तथा ममता का त्याग

'निर्ममो निरहंकारः' (गीता २।७१, १२।१३)

अर्थ—ममतारहित तथा अहंकाररहित। अध्याय दो में स्थितप्रज्ञ के और अध्याय बारह में सिद्धभक्त के लक्षणों में ये दोनों पद आनुपूर्वी इसी प्रकार आये हैं।

शङ्का—व्यवहाररहित गाढ़सुषुप्ति अवस्था में, घोर मूर्छा और निर्विकल्प समाधि-अवस्था में तो अहंता तथा ममता का स्फुरण भी नहीं होता, अतः वहाँ तो इनके त्याग की चर्चा ही नहीं की जा सकती। व्यवहारकाल में तो अहंता तथा ममता का त्याग किया ही नहीं जा सकता, क्योंकि व्यवहार अभेदमूलक नहीं, किन्तु भेदमूलक ही होता है और भेद अहंता-ममतामूलक ही होता है। ऐसी दशा में भेद की मूल अहंता तथा ममता न हो और भेदमूलक व्यवहार हो, यह तो सर्वथा असम्भव है, क्योंकि कारण के बिना कोई कार्य नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह है कि कुछ व्यवहार इस प्रकार के होते हैं कि जिन्हें सामान्य अहंता-ममता के बिना ही नहीं किन्तु विशेषरूप में अहंता-ममता स्वीकार किये बिना करने पर पाप का भागी भी होना पड़ेगा। जैसे शास्त्र-विधानानुसार 'मेरी पत्नी', 'मेरा पति' इस प्रकार ममता का विशेषरूप में स्वीकार किये बिना मैथुन करने पर अनुरक्त को व्यभिचारजन्य पाप का भागी बनना पड़ता है। विरक्त संन्यासी को भी दूसरे के कमण्डलु का पानी पीने से पाप का भागी बनना पड़ता है, अतः इस पाप से बचने के लिए शास्त्र विधानानुसार 'यह मेरा कमण्डलु है' इस प्रकार ममता का विशेषरूप में स्वीकार करना ही पड़ता है।

माता-पिता, पति-पत्नी आदि के साथ सारे जीवन में ही नहीं, किन्तु मरने के बाद भी ममता का रखना अनिवार्य है, क्योंकि 'अपने माता-पिता का श्राद्ध करो', 'अपने पति तथा पत्नी की पारलौकिक क्रिया करो' इन शास्त्र-आज्ञाओं का पालन उनमें ममता हुए बिना कैसे किया जायेगा ? माता-पिता आदि में ममता शरीर में अहंता माने बिना नहीं हो सकती, क्योंकि माता-पिता इस शरीर के ही जनक हैं, जीव के नहीं। ऐसा लगता है कि भगवान् ने इसी लिए पुत्र, पत्नी, गृह आदि में अर्थात् माता,पिता आदि में आसक्ति और अभिष्वंग (अति-आसक्ति) का ही त्याग करने को कहा, ममता का नाम नहीं लिया—

'आसक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।' (गी० १३।९)

पति-पत्नी, कमण्डलु आदि में ममता अज्ञानमूलक नहीं, किन्तु समाजमूलक या शास्त्रविधानमूलक है तथा माता-पिता-पुत्र में ममता तो प्राकृत अर्थात् प्रकृतिजन्य है। अतः अज्ञानमूलक न होने के कारण इनका ज्ञान द्वारा त्याग नहीं किया जा सकता।

यदि कहा जाये कि नाटक की तरह स्वेच्छा से व्यवहार के निर्वाह के लिए ऊपर-ऊपर से ही 'मम पत्नी', 'मम पतिः' इस प्रकार ममता का स्वीकार करे, भीतर से ममता का त्याग करे। यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि ऊपर ऊपर से स्वेच्छापूर्वक 'मेरी पत्नी', 'मेरा पति' इस प्रकार ममता स्वीकार कर के मैथुन करने पर तो व्यभिचारजन्य पाप का भागी अवश्य होना पड़ेगा। यही कारण है कि नाटक में भी यदि कोई मैथुन क्रिया करे तो उसे भी पाप अवश्य लगेगा।

इस प्रकार गम्भीर विचार से यही सिद्ध होता है कि व्यवहार-काल में तो अहंता-ममता का रहना अनिवार्य है तथा व्यवहाररहित काल में अर्थात् गाढ़ सुषुप्ति, घोर मूर्छा, और निर्विकल्प समाधि में अहंता-ममता का स्फुरण भी न होने के कारण उनके त्याग का कथन ही संभव नहीं हो सकता। ऐसी दशा में अहंता-ममता के त्याग के विधान का क्या तात्पर्य है ? यह बताने की कृपा कीजिए।

अहंकार के अनेक प्रकार

समाधान—आप की शंका सचमुच ही गम्भीर विचार युक्त है। इस गंभीर शंका का सम्यक् परिहार तभी हो सकेगा जब अहंकार कितने प्रकार के होते हैं, इसपर गम्भीरता से विचार कर लिया जाये। गीताजी में ही अनेक प्रकार के अहंकारों का वर्णन है, अतः गीता के 'निरंहकार' शब्द का अर्थ जानने के लिए गीताजी में ही आये अहंकार के विविध प्रकारों पर गंभीर विचार करना अधिक उपयोगी होगा। देखिये—

(१) क्षेत्र के स्वरूप का विवेचन करते हुए अध्याय १३।५ में अहंकार शब्द का प्रयोग किया है—

'महाभूतानि अहंकारो बुद्धिः अव्यक्तम् एव च।' (गी० १३।५)

यह अहंकार क्षेत्र (शरीर) के स्वरूप का घटक होने के कारण शरीर रहते हुए इसे त्यागा या मिटाया नहीं जा सकता।

(२) दूसरा अहंकार वह है जो क्षेत्र (शरीर) का सम्यक् सञ्चालक होता है। आत्मा को कर्ता माननेवाले श्रीरामानुजाचार्य आदि के मतानुसार वह सञ्चालक अहंकार आत्मा का स्वरूप होने के कारण उसे भी त्यागा या मिटाया नहीं जा सकता।

आत्मा को अकर्ता माननेवाले श्रीशङ्कराचार्य आदि के मतानुसार वह सञ्चालक अहंकार चिदाभासरूप औपाधिक आत्मा अर्थात् जीवात्मा होता है। तत्त्वज्ञान हो जाने के बाद जीवन्मुक्त अवस्था में पूर्ववत् ही नहीं, किन्तु पूर्व की अपेक्षा अधिक विवेकमूलक कुशलता से शरीर का सम्यक् सञ्चालन होता है। यह सम्यक् सञ्चालन अहंकाररूप औपाधिक आत्मा के बिना हो नहीं सकता, अतः श्रीशङ्कराचार्य-मतानुसार भी इस सञ्चालक अहंकार का सर्वथा अभाव या संहार नहीं होता। कर्म और करण की तरह कर्ता अर्थात् सञ्चालक अहंकार का भी तत्त्वज्ञान से केवल बाध (मिथ्यात्वनिश्चय) ही होता है।

आत्मा को अकर्ता माननेवाले कुछ आधुनिक विचारकों का कहना है कि चिदाभास कहो या औपाधिक आत्मा अर्थात् जीवात्मा कहो या सञ्चालक अहं-

कार कहो, इनकी स्थिति चेतन और जड़ का जब तक सम्बन्ध रहता है तभी तक रहती है, क्योंकि ये चिज्जड़ग्रन्थिरूप हैं। तत्त्वज्ञान से अज्ञानमूलक चेतन और जड़ का सम्बन्ध नष्ट हो जाने पर चिज्जड़ग्रन्थिरूप सञ्चालक अहंकार का भी सर्वथा अभाव हो जाता है। शरीर का सञ्चालन तो प्रारब्धानुसार उसी प्रकार होता रहता है जिस प्रकार सञ्चालक (ड्राइवर) के कूद जाने पर भाप की स्थिति के अनुसार रेलगाड़ी का सञ्चालन होता रहता है।

इनका कथन आपातरमणीय होने से अत्यन्त विचारणीय है। यदि व्यष्टि-शरीरादि का सम्यक् सञ्चालन सञ्चालक के बिना भी व्यष्टिप्रारब्ध से हो जाता है, ऐसा मान लिया जाये तो समष्टिप्रारब्ध से समष्टि-शरीररूप संसार का भी सञ्चालन हो जायेगा, यह भी मानना पड़ेगा। ऐसी दशा में जड़समष्टि के सञ्चालकरूप में चेतन ईश्वर की तथा व्यष्टिशरीर के सञ्चालकरूप में चेतन जीवात्मा की सिद्धि कभी भी नहीं की जा सकेगी, तब तो जड़वाद की ही विजयपताका फहरायेगी।

इसके अतिरिक्त आत्मा को अकर्ता माननेवालों का 'प्रारब्धानुसार शरीरादि का सम्यक् सञ्चालन होता रहता है' यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रारब्ध तो किसी कर्ता का ही होता है। चेतन आत्मा को कर्ता मानते नहीं, जड़ में कर्तृत्व संभव नहीं, मानने पर जड़ में ही कर्तृत्व की तरह भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व भी मानना होगा। इन्हें भी जड़रूप में स्वीकार कर लेने पर समष्टि तथा व्यष्टि के सारे व्यवहारों की संगति जड़ से हो जाने पर चेतन तत्त्व मानने की या सिद्ध करने की क्या आवश्यकता है ? इन सबपर विस्तार से विचार 'साधन का कर्ता' नाम के लेख में देखना चाहिए।

यदि कहें कि हम चिज्जड़ग्रन्थिरूप चिदाभास या औपाधिक आत्मा अर्थात् जीवात्मा या अहंकार को कर्ता मानते हैं, इसलिए उसका प्रारब्ध तो हो ही सकता है। यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि आप तत्त्वज्ञान से अज्ञानमूलक चिज्जड़ग्रन्थिरूप अहंकार का सर्वथा संहार मानते हैं किसी रूप में उस कर्ता अहंकार की स्थिति स्वीकार नहीं करते। ऐसी दशा में प्रारब्ध कर्मों का भोग तथा प्रारब्धानुसार शरीर का सम्यक् सञ्चालन कौन करेगा ?

रेलगाड़ी का दृष्टान्त भी ठीक नहीं, क्योंकि सञ्चालक (ड्राइवर) के अभाव में रेलगाड़ी का पूर्ववत् सम्यक् सञ्चालन नहीं होता, न तो वह स्टेशन पर रुक कर सवारी उतारती-चढ़ाती है और न सिगनल या हरी या लाल झण्डी के अनुसार व्यवस्थापूर्वक शम्यक् सञ्चालनरूप कार्य ही करती है।

यदि कहा जाये कि चिज्जड़ग्रन्थिरूप अहंकार ही तो व्यष्टि व्यक्तित्व है, तत्त्वज्ञान हो जाने पर भी यदि वह व्यष्टिव्यक्तित्व किसी रूप में बना रहेगा तो मुक्ति ही क्या हुई ? यह कथन भी आपातरमणीय होने से अति विचारणीय है। जरा विचार कीजिए कि जिस व्यक्ति को अपने में अज्ञानरूप बन्धन की प्रतीति होती है, उसका निवारण करने के लिए उसने प्राप्त सुखों पर लात मार कर दीर्घकालपर्यन्त साधना की। यदि उसी व्यक्ति को ऐसी स्पष्ट अनुभूति न हो कि 'मुझे तत्त्वज्ञान हुआ, उससे मेरा अज्ञानरूप बन्धन निवृत्त हो गया' तो साधना-की सफलता कैसे मानी जायेगी ? क्यों कोई प्राप्त सुखों पर लात मार कर कष्टमय जीवन बिता कर साधना में प्रवृत्त होगा ? यदि तत्त्वज्ञान से साधन-कर्ता 'अहं' का स्वरूप से विनाश हो जाता हो तो कोई भी बुद्धिमान् स्वनाशक तत्त्वज्ञान के लिए साधना कैसे करेगा ?

दूसरी बात यह है कि तत्त्वज्ञान से यदि व्यक्तित्व का सर्वथा विनाश हो जाता है, तो 'वे तत्त्वज्ञानी तुम्हें उपदेश देंगे'—

'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिन: तत्त्वदर्शिन: ।' (गी० ४।३४)

यहाँ व्यक्तिवाचक ज्ञानिन: पद का प्रयोग कैसे होगा ? 'उपदेक्ष्यन्ति' अर्थात् 'उपदेश देंगे' इस उपदेश क्रिया का कर्ता कौन होगा ? क्या शरीर, वाणी आदि के बिना ही ज्ञानी उपदेश दे देगा ? इन सब प्रश्नों का उत्तर क्या व्यक्तित्व को माने बिना दिया जा सकेगा ?

यदि कहा जाये कि 'ज्ञानी तुम्हें उपदेश देंगे' यह कथन जिज्ञासु की दृष्टि से किया गया है, तत्त्वज्ञ तो अपनी दृष्टि से अपने को ज्ञानी भी नहीं मानता, क्योंकि उसे ज्ञान का अभिमान होता ही नहीं। यदि अभिमान है तो ज्ञान हो ही नहीं सकता, अभिमान तो ज्ञान का नहीं किन्तु अज्ञान का ही चिह्न है।

यह कथन भी सारहीन ही है, क्योंकि श्वेताश्वतर उपनिषद् में स्पष्ट कहा है कि तम (अज्ञान) से परे आदित्यवर्ण (प्रकाशरूप) महान् पुरुष को मैं जानता हूँ—

'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमन्दित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।'

(श्वेता० उ० ३।८)

इस श्रुति में 'अहं वेद' अर्थात् 'मैं जानता हूँ' इस प्रकार स्पष्ट कथन होने के कारण 'तत्त्वज्ञ तो अपनी दृष्टि से अपने को ज्ञानी नहीं मानता' आपके इस कथन का खण्डन हो जाता है। वास्तविक बात तो यह है कि जब तक 'तत्त्व का ज्ञान मुझे हो गया' अर्थात् 'मैंने तत्त्व को जान लिया' ऐसा स्पष्ट अनुभव तत्त्वजिज्ञासु को न होगा तब तक तत्त्वजिज्ञासा की निवृत्ति, अज्ञानरूप बन्धन की निवृत्ति तथा साधन की सफलता कैसे होगी ? 'ज्ञान का अभिमान होना' और बात यह है तथा 'मुझे ज्ञान हो गया है' उससे 'मेरा अज्ञान दूर हो गया है' ऐसी अनुभूति का होना और बात है। जैसे 'मुझे धन प्राप्त हुआ है' ऐसी अनुभूति होना और बात है तथा धन का अभिमान होना और बात है।

ऐसा लगता है कि पूर्वोक्त सभी दोषों की निवृत्ति अन्य प्रकार से होती न देखकर ही आत्मा को अकर्ता माननेवाले आचार्यों में मुख्य श्रीशङ्कराचार्य के अनुयायियों ने भी अविद्यालेश और उसके आधार पर यावज्जीवन शरीर आदि के सञ्चालक अहंकार की स्थिति को स्वीकार किया है।

अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि किसी मत में भी यावज्जीवन क्षेत्र (शरीर) के स्वरूप में प्रविष्ट अहंकार की ही नहीं, किन्तु शरीर-सञ्चालक अहंकार की भी निवृत्ति नहीं हो सकती।

'अहंकार' या 'अहं' या 'मैं' मात्र को अज्ञान का चिह्न या अज्ञानजन्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जहाँ अज्ञान के लेश का भी सदा सर्वथा अभाव है वहाँ भी 'अहम्' पद का प्रयोग गीताजी में ही एक बार नहीं किन्तु अनेक बार किया गया है। देखिये—

'वेद ।हं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।' (गी० ७।२६)
'अहं सर्वस्य प्रभवः मत्तः सर्वं प्रवर्तते ॥' (गी० १०।८)
'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।' (गी० ४।१)

इन स्थलों में क्रमशः सर्वज्ञ, सर्वप्रवर्तक, उपदेशक भगवान् ही 'अहं' पद का अर्थ है। सर्वज्ञ भगवान् में तो अज्ञान या अज्ञानजन्य अहंकार का कोई भी दर्शनकार स्वीकार नहीं करता। कहने का तात्पर्य यह है कि सर्वज्ञ भगवात् तथा तत्त्वज्ञ ज्ञानवान् के लिए प्रयुक्त 'अह' को अज्ञानजन्य अहंकाररूप नहीं कहा जा सकता।

यदि कहा जाये कि उक्त स्थलों में 'अहं' पद का प्रयोग लक्षणा द्वारा शुद्ध-चेतन के लिए किया गया है। यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि शुद्धचेतन को अकर्ता माननेवाले आपके मतानुसार उसमें सर्वज्ञत्व, सर्वप्रवर्तकत्व तथा उपदेशकत्व का होना संभव ही नहीं।

यदि तत्त्वज्ञान होने पर सञ्चालक अहंकार का सर्वथा संहार आपको स्वीकार है तो 'प्रजहाति' (२।५५) 'चरति' (२।७१) 'न द्वेष्टि न कांक्षति' (१२।१७) (१४।२२) सिद्धों के लक्षण के प्रतिपादक इन गीता-श्लोकों में कथित क्रियाओं का कर्ता कौन होगा ? तथा आपके मतानुसार केवल चेतन आत्मा में और केवल जड़ अनात्मा में द्वेष, आकांक्षा आदि की प्राप्ति संभव न होने के कारण 'न द्वेष्टि' आदि निषेधों की सार्थकता कैसे होगी ? क्योंकि प्राप्ति होने पर ही निषेध सार्थक होता है 'प्राप्तौ सत्यां निषेधः'। इतना ही नहीं, किन्तु सिद्धों के किसी भी लक्षण का केवल जड़ या चेतन में संभव न होने के कारण कहाँ घटा कर संगति बैठायेंगे ? अतः इन तथा पूर्वोक्त सभी दोषों के उद्धार का एकमात्र यही मार्ग है कि आग्रह का परिहार करके शरीर आदि का सञ्चालक अहंकार तत्त्वज्ञ सिद्धों में भी स्वीकार किया जाये।

(३) तीसरा 'अहंकार' वह है जिसका वर्णन गीता १६।१८ तथा १८।५३ के 'अहंकारं बलं दर्पं' इस प्रथम चरण में किया गया है। आसुरी सम्पदा में वर्णित होने के कारण इस अहंकार का परिहार करना आवश्यक है और इसी

से सम्बन्धित ममकार (ममता) का संहार करना भी परम आवश्यक है। इसी लिए गीता १८।५३ के इस श्लोक में 'अहंकारं''' विमुच्य निर्मम: शान्तो' इस प्रकार 'विमुच्य' अर्थात् 'त्यागकर' पद का प्रयोग किया है। यह सर्वप्रकार से उचित होने के कारण सभी को स्वीकार है, क्योंकि आसुर-अहंकार और ममकार अज्ञानान्धकार का संहार करने में बाधक तथा संसारसागर में डुबाने में मुख्य हेतु हैं।

'संसृत मूल शूलप्रद नाना। सकल शोकदायक अभिमाना ॥'

परिहार करने योग्य इसी आसुर अहंकार का विस्तार 'मैंने यह प्राप्त कर लिया, मैं सर्वसमर्थ हूँ, मै धनी हूँ' इत्यादि शब्दों द्वारा गीता १६।१३—१५ में किया गया है तथा गी० १६।१६ में इसी आसुर अहंकार से युक्त मनुष्यों का नरक में पतन होना बताया है।

श्रीरामानुजाचार्यकृत भाष्यों के टीकाकार कवि-तार्किकसिंह श्रीवेंकट-नाथाचार्य ने 'शतदूषणी' ग्रन्थ के 'अहमर्थ-आत्मवाद' प्रकरण में स्पष्ट कहा है कि 'निर्ममो निरंकार:, इत्यादि स्थलों में गर्व के पर्याय अहङ्कार का ही परित्याग करने को कहा गया है, क्योंकि यही महापुरुष के अपमान का हेतु होने कारण तथा अनर्थ का हेतु होने कारण त्याज्य है। 'अहम्' या 'अहंकार' तत्त्व उपाधि के बिना अनर्थ का हेतु नहीं, इसलिए उपाधि ही त्याज्य है 'अहं' या 'अहंकार' तत्त्व नहीं। 'अहं' का स्वरूप से कोई त्याग कर भी नहीं सकता, क्योंकि त्यागबुद्धि में भी 'अहं' का प्रवेश रहता है'।

संस्कृत में उनकी पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

'निर्ममो निरहंकार:, इत्यादिषु गर्वपर्यायोऽहंकार उत्कृष्टजनावमानहेतुत्वात् अनर्थहेतुनयोपदिश्यते, न पुनरहमर्थ: अहंकारतत्त्वं वा, तयोरुपाधिमन्तरेणानर्थ-हेतुत्वाभावात्। तथा च सति उपाधिरेव हेयत्वमापद्यते। न चाहंभाव: स्वरूपेण त्यक्तुं शक्य:, त्यागबुद्धौ अपि तदनुप्रवेशात्'। (शतदूषणीग्रन्थे अहमर्थात्मवादे १२४ पृष्ठे)

अहंता-ममता त्याग का निष्कर्ष

अहंता-ममता के त्याग पर विस्तार से किये गये विचार का सार यह है कि गीता १३।५ में कथित क्षेत्र (शरीर) स्वरूपघटक प्रथम अहंकार का तो शरीर रहते परिहार (त्याग) हो ही नहीं सकता। शरीर-सञ्चालक, ज्ञान-उपदेशक और 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं' इस प्रकार तत्त्वज्ञान की एवं तत्त्व-ज्ञान से स्व-अज्ञान की निवृत्ति का अनुभव करनेवाला तथा सिद्धों के लक्षणों का आधाररूप द्वितीय अहंकार का भी सर्वथा संहार (विनाश) किसी के मत में भी नहीं हो सकता।

आत्मा को कर्ता माननेवाले श्रीरामानुजाचार्य के मतानुसार तो यह द्वितीय अहंकार आत्मरूप होने के कारण इसका संहार न होना या इसकी सदा स्थिति रहना अनिवार्य है। आत्मा को कर्ता न माननेवाले श्रीशङ्कराचार्य-मतानुसार भी यावज्जीवन कर्म और करण की बाधितानुवृत्ति की तरह कर्ता अर्थात् शरीरादि के सञ्चालक अहंकार की भी बाधितानुवृत्तिरूप स्थिति का रहना भी अनिवार्य होने के कारण स्वीकार है।

इस प्रकार किसी के मत में भी शरीरघटक (सम्पादक) और शरीर-सञ्चालक इन दोनों अहंकारों का त्याग नहीं हो सकता। गीता १६।१८ तथा १८।५३ में कथित अनर्थहेतु तृतीय आसुर अहंकार और ममकार का परिहार सभी मतों को स्वीकार है। इसी का त्याग २।७१ तथा १२।१३ में कहा है। अनर्थ के हेतु न होने के कारण तथा शरीरसम्पादक, शरीरसञ्चालक तथा लौकिक और वैदिक व्यवहार के निर्वाहक अहंकार और ममकार रहना भी सभी मतों को स्वीकार है।

आसुर अहंकार-ममकार के परिहार का स्वरूप

व्यवहार में आसुर अहंकार और ममकार के परिहार का स्वरूप यह है कि इनके वश में होकर स्व-पर अहितकर शास्त्रनिषिद्ध कार्य न करे, भले ही कभी इनके परवश होकर कुछ क्षणों के लिए रोना पड़े। जैसे धर्मराज सूर्यकुमार यम के अवतार विदुर और युधिष्ठिर 'मेरा भतीजा', 'मेरे चाचा'

इस प्रकार ममता परवश होकर व्यवहार में परस्पर एक दूसरे के कष्टों से कुछ क्षणों के लिए विकल हो गये थे एवं सर्वस्वत्यागी परमसत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र अपने पुत्र और अपनी पत्नी को बेचते समय तथा चाण्डाल की आज्ञा के अनुसार स्वपत्नी के ऊपर फरसे का प्रहार करते समय फुफकार-पूर्वक दहाड़ मारकर रो पड़े थे। परन्तु इन्होंने ममतापरवश होकर लोक तथा परलोक अहितकर शास्त्रनिषिद्ध कोई कार्य नहीं किया। इसी लिए इन लोगों को इस लोक में विमल कीर्ति और परलोक में कल्याण की प्राप्ति हुई। किसी ने भी इनकी निन्दा नहीं की एवं ममताग्रस्त अज्ञानी नहीं माना।

जो लोग कभी कुछ क्षणों की विकलता को भी अज्ञान का ही निशान मानते हैं, उनको तो इतिहास, पुराण, श्रुति और स्मृतियों में वर्णित सनक, सनन्दन, वसिष्ठ, लोमश, व्यास, जनक आदि अति प्रसिद्ध तत्त्वज्ञानियों को भी अज्ञानी ही मानना पड़ेगा। क्योंकि इन सभी तत्त्वज्ञानियों के जीवन में भी कभी कभी क्षणिक विकलता का स्पष्ट वर्णन शास्त्रों में मिलता है तथा भागवत में कहा है—

देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो
जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः।
संसारधर्मैरविमुह्यमानः
स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः॥ (भा० ११।२।४९)

अर्थ—देह, इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धि के जन्म, मृत्यु, क्षुधा, भय, तर्ष आदि कष्टकर संसारधर्मों से जो भक्त (जागरूक) भगवतस्मृति के कारण मोहित नहीं होता वह भक्तों में श्रेष्ठ है।

इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भय आदि का मन में कभी कुछ सञ्चार सिद्ध भक्त में भी हो जाता है, किन्तु वह उनसे मोहित नहीं होता अर्थात् मोहग्रस्त होकर शास्त्रनिषिद्ध कोई आचरण नहीं करता। इसमें हेतु पूर्वकाल के परमात्मज्ञान को नहीं, किन्तु तत्क्षण वर्तमान उद्‌बुद्ध (जागरूक) परमात्मा की स्मृति को कहा है। यदि सिद्ध भक्त में भय आदि का कभी भी

किञ्चिद् भी सञ्चार ही न होता तो 'वह उनसे मोहित नहीं होता' ऐसा कथन करना तथा उसके परिहार का उपाय परमात्मा की स्मृति बताना व्यर्थ होता। अतः कभी कुछ क्षणों के लिए सिद्धों में भयादि का संचार होना संभव है। इसका कारण यह है कि तत्त्वज्ञ सिद्धों में भी सर्वज्ञ ईश्वरसदृश सदा एकरस ज्ञान नहीं रहता—

'जौं सब के रह ज्ञान एकरस। ईश्वर जीवहिं भेद कहहु कस॥'

इसका भी कारण यह है कि सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है 'सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्' (गी० १४।१७)। सिद्धों में भी सत्त्वगुण की अधिकता होने पर भी सदा एकरस सत्त्वगुण नहीं रहता। तभी सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के प्रतीक क्रमशः प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह की प्रवृति और निवृत्ति में द्वेष, आकांक्षा नहीं करता ऐसा कहना संभव होता है—

'प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥' (गी० १४।२२)

इस प्रकार शास्त्रों के सिद्धलक्षण-प्रतिपादक वचनों तथा सिद्धों के श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराण प्रसिद्ध कथानकों के ऊपर पूर्वापर सङ्गति-पूर्वक सम्यक् विचार करने से यही सिद्ध होता है कि आसुर अहंकार और ममकार के वश में होकर शास्त्रनिषिद्ध स्व और पर का अहितकर कार्य न करना ही आसुर अहंकार और ममकार के परिहार का स्वरूप है।

आसुर अहंकार-ममकार के परिहार का उपाय

अशुद्ध उपाय—रोग पर प्रहार करने के लिए किया गया चिकित्सारूप उपचार यदि रोगी का ही संहार कर डाले तो ऐसा चिकित्सारूप उपचार जैसे समादरयोग्य नहीं, किन्तु सर्वथा निरादरयोग्य ही माना जाता है वैसे ही व्यवहार में दोषोत्पादक आसुर अहङ्कार और ममकार पर प्रहार करने के लिए किया गया विचाररूप साधन यदि व्यवहार का ही संहार कर डाले तो ऐसा विचाररूप साधन समादरयोग्य नहीं, किन्तु निरादरयोग्य ही माना जायेगा।

इस दृष्टि से देखा जाये तो एक गृहस्थ, जो 'मैं मूर्ख हूँ, मेरी कन्या का विवाह कैसे हो, विवाह के लिए पैसा पास में नहीं, वर मिलता नहीं' इस प्रकार अहंता-ममताजन्य चिन्ता से ग्रस्त है। उसके लिए 'तुम मूर्खता के भी साक्षी हो, तुम शरीर नहीं, अतः यह कन्या तुम्हारी पुत्री नहीं, तुम्हें इसका विवाह करना ही नहीं, क्योंकि तुम तो अकर्ता आत्मा हो, इसलिए तुम्हें पैसे की जरूरत भी नहीं' इस प्रकार का आत्मज्ञानियों द्वारा किया हुआ या स्वयं किया हुआ विचाररूप साधन अहंता, ममता तथा उनसे उत्पन्न चिन्ता का नहीं, किन्तु व्यवहार का ही संहार करनेवाला होने से व्यवहार में समादर-योग्य नहीं हो सकता।

एवं एक गृहत्यागी संन्यासी, जो 'मैं बहुत भूखा हूँ, मेरी क्षुधा की निवृत्ति कैसे हो, कहाँ से भोजन प्राप्त हो' इस प्रकार अहंता, ममता तथा उनसे उत्पन्न चिन्ता से ग्रस्त है। उसके लिए 'तुम शरीर नहीं, क्षुधा तुम्हें लगती ही नहीं, क्योंकि तुम भोक्ता नहीं, अतः तुम्हें भोजन की आवश्यकता ही नहीं, तुम तो इन सबके साक्षी क्षुधा-पिपासारहित अकर्ता, अभोक्ता आत्मा हो' इस प्रकार का विचाररूप साधन अहंता, ममता तथा इनसे उत्पन्न चिन्ता का नहीं, किन्तु भिक्षाटनरूप व्यवहार का ही संहार करनेवाला होने से व्यवहार में समादर-योग्य नहीं हो सकता। उक्त विचार की व्यवहार में निःसारता उस समय तुरन्त प्रगट हो जाती है जिस समय इस तर्क का उदय हो जाता है कि 'आत्मा अभोक्ता होने से क्षुधारहित है, तो वह भोजन भी नहीं माँगता, जो भोजन माँगता है वह क्षुधारहित नहीं, व्यर्थ के ज्ञान का बखान क्यों करते हो ?

इसी प्रकार यह विचार कि 'शरीर आदि अनात्मपदार्थों से सम्बन्ध स्थापित करने पर ही उक्त अहंता, ममता तथा इनसे जन्य चिन्ता होती है, अतः इनके साथ माना हुआ सम्बन्ध छोड़ देना चाहिए', 'स्वरूप में स्थित होने पर सम्बन्ध छूट जायेगा, अतः समाधि लगाकर स्वरूपस्थ हो जाना चाहिए' इत्यादि साधन भी व्यवहार का ही संहार करनेवाले होने के कारण व्यवहार में समादरयोग्य नहीं हो सकते।

साधन तो ऐसा होना चाहिए जो व्यवहार का संहार तो जरा भी न करे; केवल आसुर अहंकार, ममकार और इनसे उत्पन्न चिन्ता तथा चिन्ताजन्य परद्रव्य हरण आदि विकारमात्र का ही परिहार करे। अन्यथा व्यवहार करते हुए जीवन में उस साधन का अवतार कभी न हो सकेगा।

इस दृष्टि से विचार करने पर इन आधुनिक महानुभावों के वताये साधन भी वेकार सिद्ध होते हैं, जो व्यवहार में होनेवाले दुःखादि विकार का परिहार करने के लिए यह विचार उपस्थित करते हैं कि 'अहंकार न हो तो ममकार नहीं हो सकता, ममकार न हो तो पदार्थों में आसक्ति नहीं हो सकती, आसक्ति न हो तो उनके वियोग में दुःखादि विकार नहीं होंगे, अतः अहंकार-ममकार का परिहार करना ही दुःखादि विकारों के संहार का एकमात्र उपाय है'। यह विचार कारण-कार्य-भावमूलक सुदृढ़ शिला के आधार पर उपस्थापित किया गया होने पर भी व्यवहार का सर्वप्रकार से संहार करनेवाला होने के कारण सर्वथा अव्यवहार्य होने से वेकार सिद्ध होता है।

यही कारण है कि जो सच्चे साधक उक्त विचार का लगातार २५—५० वर्षों तक समादर करके भी व्यवहार करते हुए जीवन में उसे उतार न सके, उनके मुखागार से वारम्वार यही उद्गार निकलता हुआ श्रवणगोचर होता है कि 'यार सब वेकार की वकवासमात्र है, किसी भी विकार का परिहार नहीं होता'। अतः किसी भी विकार का परिहार करनेवाला विचाररूप साधन जीवन-व्यवहार का संहार करनेवाला न हो इस बात पर पूरा ध्यान रखना चाहिए।

शुद्ध उपाय—अब यह प्रश्न होता है कि वह उपाय क्या है, जिससे व्यवहार का संहार न होकर केवल आसुर अहंकार आदि विकारों पर ही प्रहार होता है ? इस प्रश्न का उत्तर है ईश्वर-विश्वास, प्रारब्ध-विश्वास तथा विधि-निषेध-शास्त्रविश्वास मूलक विरोधी विचारों का जाग्रत् रहना। देखिये—

अपनी पुत्री के विवाह की चिन्ता से ग्रस्त गृहस्थ तथा अपनी क्षुधा से त्रस्त गृहत्यागी संन्यासी के हृदय में यह विश्वास जाग्रत् हो जाये कि ईश्वर ही

विश्वंभर है, वही सबका प्रारब्धानुसार भरण-पोषण करता है, मेरी पुत्री के विवाह की व्यवस्था तथा क्षुधा-निवृत्ति की व्यवस्था भी वह अवश्य करेगा। यदि मैं अन्यायपूर्वक परद्रव्य-अपहरण आदि शास्त्रनिषिद्ध कर्मों का आचरण करूंगा तो लोक में निन्दा, राजदण्ड और परलोक में यमराजदण्ड का भागी होऊंगा। इन विरोधी विचारों के जाग्रत् होने पर वह गृहस्थ तथा गृहत्यागी संन्यासी आसुर अहंकार, ममकार आदि मूल विकारों का तथा इनसे उत्पन्न चिन्ता, पर-द्रव्य-अपहरण आदि अन्य विकारों का भी परिहार करता हुआ अपना लोक-व्यवहार भी कर लेगा, क्योंकि जागरूक विरोधी विचार व्यवहार का जरा भी संहार न करके विकारों पर ही प्रबल प्रहार करते हैं। इसलिए ऐसे उपायों को ही शुद्ध उपाय कहा जायेगा और ऐसे विचाररूप साधनों का ही जीवन में व्यव-हार करते हुए अवतार भी हो सकेगा।

सर्वविकार-परिहार का मूलाधार

आसुर अहंकार तथा ममकार का ही नहीं, व्यवहार में होनेवाले सर्वविकार-मात्र के परिहार का मूलाधार तत्काल जागरूक विरोधी विचार ही है। उस विरोधी विचार का आधार चाहे दोषरहित अचल ईश्वर-विश्वास, प्रारब्ध-विश्वास, विधिनिषेधशास्त्र-विश्वास हो, या दोषयुक्त सचल लोभादि स्वार्थ-मूलक व्यवहार हो। देखिये—

'पुत्र कहीं भाग जायेगा, आत्महत्या कर लेगा तो लोग हमारी निन्दा करेंगे, वृद्धावस्था में हम दोनों का भरण-पोषण कौन करेगा, अतः सहन करना ही ठीक है' इस प्रकार के स्वार्थमूलक विरोधी जागरूक विचार द्वारा माता-पिता पुत्रकृतदण्डप्रहारजन्य असह्य क्रोधरूप विकार का भी परिहार कर लेते हैं एवं 'ग्राहक अन्यत्र चला जायेगा तो हमें धन की प्राप्ति न होगी' इस प्रकार के लोभमूलक विरोधी जागरूक विचार द्वारा दूकानदार ग्राहक द्वारा किये गये महान् अपमानरूप विकार का संहार हँसते हुए कर देता है। ऐसा सर्वत्र व्यव-हार में देखा जाता है।

इस प्रकार यद्यपि लोभादि विकारमूलक विरोधी जागरूक विचार द्वारा भी क्रोधादि विकार का व्यवहार में परिहार हो जाता है, तथापि ये विरोधी विचार लोभादि अनेक विकारों के पोषक होने के कारण सर्वथा उपादेय नहीं हो सकते। ईश्वरविश्वास, प्रारब्धविश्वास तथा विधिनिषेधशास्त्रविश्वास मूलक विरोधी जागरूक विचार एक या अनेक नहीं, किन्तु सर्वविकारों के शोषक होने के कारण सर्वथा उपादेय हैं। विरोधी विचार की जागरूकता के आधार बारम्बार किया हुआ अभ्यास, सात्त्विक आहार-विहार, परिवार, परिकर-परिजन और नगर राष्ट्र के परम्पराप्राप्त व्यवहारजन्य संस्कार होते हैं, केवल एक बार का किया हुआ विचारमात्र नहीं।

समता

"समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।' (गी० १८।१२)

शङ्का—कुछ विद्वानों का कहना है कि व्यवहार में व्यवहारनिर्वाहक अहंता तथा ममता का ही नहीं, किन्तु मान और अपमान में तुल्यता, लोष्ट-अश्मा-काञ्चन में समता, प्रिय और अप्रिय की प्राप्ति में अनुद्विग्नता आदि लक्षणों का होना भी असंभव है। इसका कारण यह है कि मान-अपमान तथा प्रिय-अप्रिय का ज्ञान न होने पर तो उद्वेग का अभाव अज्ञानी में भी रहता है। इनका ज्ञान होने पर तो उद्वेग ज्ञानी में भी होता है, ऐसा इतिहास-पुराणों में पढ़ने को मिलता है। सोना, पत्थर का भेद या उपयोगिता न मालूम होने पर दोनों को फेंक देना या उपेक्षा कर देना या ग्रहण न करना रूप समता तो बालकों तथा मूर्खों में भी रहती ही है। भेद तथा उपयोगिता का ज्ञान होते हुए दोनों का समान भावसे ग्रहण या त्याग नहीं हो सकता। यही कारण है सिद्ध होने पर भी राजा जनक, प्रह्लाद आदि स्वर्ण को कोषागार में रखते थे, पाषाण को नहीं। अतः सिद्धों के सभी लक्षणों का 'व्यवहारकाल में उनके मन में भी उद्वेग नहीं होता, समता बनी रहती है' इस दृष्टि से घटना असंभव होने के कारण वे लक्षण आत्मदृष्टि से कहे गये हैं ऐसा समझना चाहिए, अर्थात् उनकी आत्मा में अहंता-ममता, राग-द्वेष तथा उद्वेग नहीं होते, ऐसा अर्थ समझना चाहिए।

इन विद्वानों का कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि गीता अध्याय दो श्लोक छप्पन में 'दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः' अर्थात् दुःखों में भी उसका मन उद्विग्न नहीं होता, इस प्रकार स्पष्ट शब्दों से मन में ही उद्वेग का अभाव बताया है, आत्मा में नहीं। हम सिद्ध नहीं, साधक हैं, तो भी कभी-कभी देखते हैं कि किसी के छोटे बालक ने चाकू फेंक कर मार दिया, खून चलने लगा, घाव में जोर की पीड़ा का अनुभव होने लगा, तब भी 'अरे यह अबोध बालक है' ऐसा उद्वेगविरोधी सामान्य ज्ञान जाग्रत् हो जाने के कारण आत्मा में नहीं, किन्तु मन में भी उद्वेग नहीं होता। ऐसी दशा में जिस सिद्ध ने शरीर से पृथक् आत्मतत्त्व का साक्षात्काररूप महान् ज्ञान प्राप्त कर लिया है तथा दुःख देनेवालों को, अज्ञानी होने के कारण, अबोध बालक की तरह ही मानता है, उसके मन में भी उद्वेग न हो यह संभव ही है। अतः सिद्धों के लक्षणों का 'उनकी आत्मा में उद्वेग आदि नहीं होते' इस तरह अर्थ करना ठीक नहीं। तो भी इन विद्वानों का कथन विचारणीय अवश्य है। देखिये—

'समः शत्रौ च मित्रे च' इस वाक्य का यदि यह अर्थ किया जाये कि 'सिद्ध महापुरुष तन, मन, वचन, धन, मकान आदि से दोनों का समान भाव से मान-सम्मान, धन-दान, भोजन-जलपान और मकान के भीतर शयन आदि द्वारा सन्तोष प्रदान करता है।' तो यह ठीक न होगा, क्योंकि 'अज्ञातकुल-शीलस्य वासो देयो न कर्हिचित्' अर्थात् जिसका कुल और शील (स्वभाव) ज्ञात न हो उसको अपने मकान के भीतर शयन आदि के लिए स्थान प्रदान नहीं करना चाहिए, ऐसी जो शास्त्र की आज्ञा है, उसका अतिक्रमण होगा।

किसी एकाकी गृही के लिए केवल उसी की लौकिक धन आदि की हानि शत्रु करेगा, इसलिए किसी प्रकार अतिथि-सत्कार आदि के रूप में भले ही उक्त अर्थ का समर्थन किया जा सके, परन्तु युवती स्त्री-पुत्री, बच्चोंवाले गृही के लौकिक और अलौकिक धन, धर्म आदि सबका अपहरण तथा कुलच्छेद का कारण होने से ज्ञात शत्रु के गृह में निवास का समर्थन किसी प्रकार भी नहीं किया जा सकता। इसी दृष्टि से अज्ञातकुलशील के निवास का निषेध शास्त्र में किया गया है।

लाखों, करोड़ों, अरबों मानवों के तन, धन, मकान, स्त्री, बच्चों आदि लौकिक पदार्थों की तथा भजन, ध्यान, दान, धर्म आदि अलौकिक पदार्थों की रक्षा का भार वहन करने वाला राजा अपने मकान में ही नहीं, किन्तु अपने राज्य में भी ज्ञात शत्रु को मान-सम्मान नहीं, केवल निवास स्थानमात्र भी दे देगा तो लाखों, करोड़ों, अरबों मानवों का लोक और परलोक सभी कुछ नष्ट हो जायेगा। अतः शत्रु और मित्र में समता का भी ऐसा अर्थ बताइये जिसे व्यवहार करते जीवन में उतार कर दिखाया जा सके।

'तुल्यप्रियाप्रियो' (गी० १४।२४) इस वाक्य का यह अर्थ नहीं किया जा सकता कि जो दूसरों को या अपने को ही भूतकाल में प्रिय-अप्रिय था, वर्तमान-काल में प्रिय-अप्रिय नहीं है, ऐसे पदार्थ की प्राप्ति-अप्राप्ति में सिद्ध पुरुष तुल्य (सम) रहता है, क्योंकि यह लक्षण तो सभी अज्ञ पुरुषों में पाया जाता है। सभी अज्ञ दूसरों के प्रिय-अप्रिय या बाल्यावस्था में अपने को प्रिय-अप्रिय कौड़ी-हथौड़ी की प्राप्ति अप्राप्ति में सम ही रहते हैं। इसलिए यही अर्थ करना होगा कि सिद्ध पुरुष को वर्तमान काल में जो प्रिय-अप्रिय है उसकी प्राप्ति-अप्राप्ति में वह सम रहता है। इस प्रकार के समत्व को भी व्यवहार करते हुए जीवन में उतार कर दिखाया नहीं जा सकता। इसका कारण यह है कि सिद्ध पुरुष को भी वर्तमान काल में यदि कुछ प्रिय-अप्रिय है तो उसकी प्राप्ति-अप्राप्ति में मनोविज्ञानानुसार प्रसन्नता-अप्रसन्नता अवश्य होगी। यदि कुछ भी प्रिय-अप्रिय नहीं है तो सम रहने का प्रश्न ही नहीं उठता।

यदि कहें कि अज्ञ पुरुषों को जैसी महान् प्रसन्नता-अप्रसन्नता होती है, वैसी सिद्ध पुरुषों को नहीं होती, बहुत न्यून (कम) होती है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि इस न्यूनता का कारण क्या पदार्थों में प्रियता-अप्रियता की न्यूनता है? या उनके प्राप्ति-परिहार की क्षमता है? दोनों तरह से यह लक्षण अज्ञ पुरुषों में भी समानरूप से पाया जाता है। देखिये—जिन पदार्थों में न्यून प्रियता-अप्रियता है या उनके प्राप्ति-परिहार (निवृत्ति) की क्षमता है, ऐसे मिट्टी, जल आदि पदार्थों की प्राप्ति-अप्राप्ति में अज्ञ पुरुषों में न्यून ही प्रसन्नता-अप्रसन्नता होती है।

यह भी प्रश्न होता है कि प्रियता-अप्रियता में न्यूनता का कारण क्या उन पदार्थों की आवश्यकता-अनावश्यकता की न्यूनता है ? या किसी प्रकार की अनुकूलता-प्रतिकूलता का विवेक कारण है ? दोनों तरह से यह लक्षण भी अज्ञ पुरुषों में समानरूप से पाया जाता है। देखिये—जिन मिट्टी, जल आदि पदार्थों की अति आवश्यकता-अनावश्यकता नहीं है, या जब चाहूँगा जल तथा मिट्टी मिल जायेगी इन्हें संग्रह करके रखने की क्या आवश्यकता है ऐसा विवेक जाग्रत् है, उन मिट्टी, जलादि की प्राप्ति-अप्राप्ति में अज्ञ पुरुष भी सम ही रहते हैं। अतः अज्ञ पुरुषों की समता से सिद्ध पुरुषों की समता में विलक्षणता हो तथा व्यवहार करते हुए जीवन में उसे उतार कर दिखाया जा सकता हो, प्रिय-अप्रिय की प्राप्ति-अप्राप्ति में रहनेवाली ऐसी समता (तुल्यता) का क्या स्वरूप है ? बताने की कृपा कीजिए।

समाधान—विस्तारपूर्वक की गई आप की शङ्काएँ अति गंभीर विचार से परिपूर्ण हैं। ऐसा लगता है कि व्यवहार में अहंकार-ममकाररूप मुख्य विकार के परिहार का और शत्रु-मित्र, प्रिय-अप्रिय, लोष्ट-काञ्चन, मान-अपमान में समान रहना आदि सद्गुणों के सञ्चार का लगातार वर्षों तक आपने विचारपूर्वक पुरुषार्थ किया है, इसके बिना इस प्रकार के गंभीर विचार से पूर्ण शङ्काएँ हो ही नहीं सकतीं। यही कारण है कि जो पुरुष एक दो नहीं किन्तु २५-५० वर्षों से सिद्धों के लक्षण सुनते-सुनाते, पढ़ते-पढ़ाते आ रहें हैं, वे भी इस प्रकार के गभीर विचारपूर्ण प्रश्न नहीं पूछते। यथामति समाधान दिया जा रहा है, सावधान होकर श्रवण कीजिए।

शत्रु-मित्र में समता—'अतिथिदेवो भव' अर्थात् अतिथि की देववत् पूजा करने का व्रत जिसने लिया है ऐसे व्यक्ति को छोड़कर अन्य व्यक्तियों के लिए जब अज्ञातकुलशीलवाले अशत्रु को भी मान-सम्मानपूर्वक मकान में शयन कराने का शास्त्र निषेध करता है, तब ज्ञात कुल और शीलवाले शत्रु का मित्र के समान मान-सम्मानपूर्वक मकान में शयन कराना तो शास्त्रवचन का अपमान करना ही है तथा घर, परिवार, राष्ट्र और शत्रु के लिए भी अहितकर है।

अतः शत्रु और मित्र में समता का स्वरूप यह है कि जैसे अपने पुत्र या मित्र के लिए आवश्यकता के अनुसार कष्टकर मार, फटकार का व्यवहार करते हुए भी लोक तथा परलोक में हितकर ही व्यवहार करते हैं, अहितकर नहीं, वैसे ही शत्रु के सुधार के लिए आवश्यकतानुसार वचन, तिरस्कार, समाजबहिष्कार आदि कष्टकर ही नहीं, किन्तु प्राणहर हथियार का प्रबल प्रहार करते हुए भी पुत्र तथा मित्र के समान हितकर व्यवहार ही करें, अहितकर नहीं। यही कारण है कि नरराज और यमराज शत्रु के सुधार के लिए उसके अहितकर कर्मानुसार प्राणहर हथियार का प्रबल प्रहार करते हुए भी समता का व्यवहार करनेवाले ही माने जाते हैं।

यदि शत्रु के निरपराध परिवार का परिपालनरूप सद्व्यवहार करने से शत्रु के हृदय में सद्विचार का सञ्चार होकर हितकर सुधार होने की आशा हो तो मित्र के परिवार की तरह शत्रु के परिवार का भी प्रकटरूप में या अप्रकटरूप में पालन करना भी शत्रु और मित्र में समता का स्वरूप है। सुधार की पूर्ण आशा हो तथा घर, परिवार, परिकर और राष्ट्र के लिए अहितकर न हो तो मित्र के समान शत्रु को भी भोजन, जलपान, मकान में शयन, धनदान, मान-सम्मान आदि द्वारा सब तरह अभयदान, जीवनदान देना भी समता का स्वरूप है।

प्रिय-अप्रिय में समता---सिद्ध पुरुष को वर्तमान में जो प्रिय या अप्रिय है उसकी प्राप्ति-अप्राप्ति में ही समता का कथन किया गया है। यद्यपि मनोविज्ञानानुसार प्रिम-अप्रिय की प्राप्ति-अप्राप्ति में प्रसन्नता-अप्रसन्नतारूप विकार का व्यवहार में होना अनिवार्य है, तथापि इस विकार का सञ्चार अति अल्प मात्रा में होने के कारण समता शब्द से कहा गया है।

यद्यपि वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि में प्रियता तथा अप्रियता की न्यूनता ही प्रसन्नता-अप्रसन्नता की न्यूनता में कारण है और प्रियता की न्यूनता में विवेक ही कारण है, तथापि सिद्ध पुरुष की समता को अज्ञ पुरुष की समता के समान नहीं कह सकते। इसका कारण यह है कि सिद्ध पुरुष में जिस विवेक

से समता स्थिर रहती है वह विवेक स्थिर आधार पर आधारित होता है तथा अन्य विकार का सञ्चार करनेवाला नहीं होता, अज्ञ पुरुष का विवेक इसके विपरीत होता है।

यदि कहा जाये कि उक्त विवेक (विचार) रूप प्रबल हथियार के बल पर विषमतारूप विकार का परिहार कर समता में स्थिर रहना भी सिद्ध पुरुष में विशेषता को वैसे ही सिद्ध नहीं करता, जैसे सर्प का संहार कर डालनेवाले हथियार के हाथ में रहने पर भयरूप विकार का परिहार कर निर्भय रहना, विशेषता को सिद्ध नहीं करता। यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि उक्त प्रबल विवेक की प्राप्ति के लिए सिद्ध पुरुष ने जो प्रबल पुरुषार्थ किया है वही उसकी अज्ञ पुरुष से विशेषता है।

प्रिय-अप्रिय में सम रहने का उपाय भी पूर्वकथित जागरूक विरोधी विचार ही है। प्रिय-अप्रिय में सम रहने पर जो विचार किया गया है उसी से मानापमान, सुख-दुःख, सोना-लोढ़ा, निन्दा-स्तुति में सम रहने का विचार हो जाता है, क्योंकि इनमें भी प्रियता-अप्रियता होने पर ही विषमता होती है, स्वतः ये विषमता में हेतु नहीं होते।

सिद्धों के विरुद्ध लक्षणों की सङ्गति

(१) 'देहं च तं न चरमः स्थितमुत्थितं वा
सिद्धो विपश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम्।
दैवादुपेतमथ दैवशादपेतं
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः॥'

(भाग० ३।२८।३७)

(२) 'यस्यात्मा हिंस्यते हिंस्रैर्येन किञ्चिद् यदृच्छया।
अर्च्यते वा क्वचित्तत्र न व्यतिक्रियते बुधः॥'

(भाग-११।११।१५)

(३) 'देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो
जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः।

संसारधर्मैरविमुह्यमानः
स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः ॥' (भाग० ११।२।४९)

(४) 'न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि संभवः ।
वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः ॥'
(भाग० ११।२।५०)

(५) 'यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ।'
(गी० ६।२२)

अत्र शाङ्करभाष्यम्–
'यस्मिन् आत्मतत्त्वे स्थितो दुःखेन
शस्त्रनिपातलक्षणेन गुरुणा महताऽपि न विचाल्यते ।'

अर्थ—(१) जैसे मदिरामदान्ध पुरुष को लपेटे हुए अपने वस्त्र के गिरने या रहने की कुछ भी स्मृति नहीं रहती, वैसे ही चरमावस्था को प्राप्त सिद्ध पुरुष को देह के उठने, बैठने या दैववशात् कहीं जाने और आने के बारे में कुछ भी ज्ञान नहीं रहता ।

(२) सिद्ध पुरुष के शरीर को हिंसक चाहे पीड़ा पहुँचाये या दैवयोग से कोई पूजा करे, इससे उनमें विकार नहीं होता ।

(३) जन्म-मृत्यु, भूख-प्यास, श्रम-कष्ट, भय और तृष्णा ये क्रमशः शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धि के धर्म हैं । भगवत्स्मृति के कारण इन सांसारिक धर्मों द्वारा जो मोहित नहीं होता, वह भक्तों में श्रेष्ठ हैं ।

(४) जिसके हृदय में काम, कर्म और इनके बीज वासनाओं का भी उदय नहीं होता, जो एकमात्र भगवान् वासुदेव में ही निवास करता है, वह भक्तों में उत्तम है ।

(५) जिस अवस्था में स्थित हुआ पुरुष बड़े भारी दुःख से भी विचलित नहीं होता ।

यहाँ शाङ्कर भाष्य इस प्रकार है–

जिस आत्मतत्त्व में स्थित हुआ शस्त्रनिपातरूप महान् दुःख से विचलित नहीं होता ।

सिद्ध पुरुष के इन लक्षणों में परस्पर विरोध प्रतीत होता है, क्योंकि जो शस्त्रप्रहारजन्य महान् कष्ट से भी विचलित नहीं होता, उसके बारे में 'वह भय से मोहित नहीं होता' यह कहना बनता ही नहीं एवं जिसके मन में काम और उसके बीज वासना का उदय भी नहीं होता, उसके बारे में 'तृष्णा से मोहित नहीं होता' यह कहना भी नहीं बनता ।

इन विरुद्ध वचनों की सङ्गति भूमिकाभेद से लगानी चाहिए ऐसा श्रीमधुसूदन सरस्वतीजी ने गीता ३।१८ की व्याख्या में कहा है—"श्लोकानां सङ्गतिर्भूमिकाभेदेन ज्ञेया'। तात्पर्य यह है कि 'शस्त्रप्रहार से भी विचलित न होना तथा वासना का भी उदय न होना यह लक्षण सातवीं भूमिका में, 'उठने-बैठने, जाने-आने का ज्ञान न होना' यह लक्षण छठी भूमिका में तथा 'भय तृष्णा आदि से मोहित न होना' यह लक्षण पाँचवीं भूमिका में स्थित सिद्ध पुरुष का जानना चाहिए ।

जिस प्रकार भूमिकाभेद से लक्षणों में वैलक्षण्य होता है उसी प्रकार गृहस्थाश्रम, संन्यासाश्रम, स्थायी निवास करनेवाले (कुटीचक), अस्थायी निवास करनेवाले (परमहंस) आदि भेदों से भी लक्षणों में कुछ वैलक्षण्य का होना स्वाभाविक है। एक गृहस्थाश्रमी या स्थायी निवास करनेवाले संन्यासाश्रमी सिद्ध पुरुष के पास अस्थायी निवास करनेवाले परमहंस की अपेक्षा वस्तुओं का अधिक होना संभव ही है। इसके कारण चित्त की शान्ति-अशान्ति अर्थात् चञ्चलता-अचञ्चलता में तारतम्य का होना तथा तितिक्षा की न्यूनता-अधिकता का होना भी स्वाभाविक है ।

यही कारण है कि अधिक अन्तर्मुखता तथा तितिक्षा का सम्पादन करने के लिए बाह्य-त्याग की भी सार्थकता शास्त्र ने मानी है, अन्यथा बाह्य-त्याग के विधान की क्या आवश्यकता थी। अतः जो लोग भूमिकाओं और परमहंस आदि अवस्थाओं में ही हो सकनेवाले लक्षणों से युक्त अपने जीवन को देखना

चाहते हैं, उनको बाह्यत्यागपूर्वक भूमिकाओं और अवस्थाओं को प्राप्त करने का अवश्य प्रयास करना चाहिए। अन्यथा तत्त्वज्ञानमात्र से उनका सम्पादन नहीं किया जा सकेगा, क्योंकि तितिक्षा आदि की प्राप्ति में बाह्यत्याग की ही प्रधानता है ।

देखिये—एक धनी संग्रही रागी गृही भी जितनी वस्तुओं से घर में स्थायी निवास करता हुआ काम चलाता है, वही जब अस्थायी निवासवाली तीर्थयात्रा आदि अवस्था को स्वीकार करता है तो 'कम से कम सामान ले चलो' ऐसा नौकरों से कहता है । यद्यपि उस धनी को कुछ भी सामान स्वयं ढोना नहीं पड़ता, सब नौकर ही ढोते हैं, तथापि अस्थायी निवास में सामान अपेक्षाकृत कम ही ले जाता है, जिससे उसे कुछ तितिक्षा भी करनी पड़ती है । ऐसी दशा में जो संन्यासी है जिसे सभी सामान स्वयं ढोना पड़ता है वह बहुत कम सामान लेकर चले यह स्वाभाविक है और इससे उसमें अधिक तितिक्षा का आना भी स्वाभाविक है, जिसका कि केवल तत्त्वज्ञान से सम्पादन नहीं किया जा सकता ।

सारांश—सिद्धों के लक्षण पर विस्तार से जो विचार किया गया है उसका सार यह है कि शरीर-सम्पादक, शरीर-सञ्चालक और व्यवहार-निर्वाहक अहंकार-ममकार का परिहार व्यवहार करते हुए संभव न होने के कारण आसुर अहंकार और ममकार का परिहार ही 'निर्ममो निरहंकारः' शब्द से कहा गया है। आसुर अहंकार तथा ममकार के परवश होकर शास्त्रनिषिद्ध आचरण न करना ही उसके परिहार का स्वरूप है । परिहार का शुद्ध उपाय व्यवहार का संहार न करनेवाला तत्क्षण जागरूक ईश्वर-विश्वास, प्रारब्ध-विश्वास तथा विधिनिषेध-शास्त्र-विश्वास पर आधारित विचार ही है ।

शत्रु मित्र, प्रिय-अप्रिय, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों में समता का स्वरूप भी यही है कि शत्रुता, मित्रता आदि से प्रेरित होकर इनके साथ शास्त्रनिषिद्ध व्यवहार न किया जाये, किन्तु शास्त्रमर्यादानुसार परिवार, नगर आदि के लिए जो अहितकर न हो और शत्रु आदि के लिए हितकर हो तथा व्यवहार का

संहार करनेवाला न हो वैसा व्यवहार किया जाये। समताप्राप्ति का विशुद्ध उपाय भी उक्त विरोधी विचार ही है।

सिद्धों के विरुद्ध लक्षणों की संगति भूमिका-भेद तथा अवस्था-भेद से लगानी चाहिए। भूमिका-भेद और अवस्था-भेद से ही प्राप्त होनेवाले लक्षणों की प्राप्ति के लिए भूमिका तथा अवस्था की प्राप्ति अवश्य करनी पड़ेगी। तत्त्व-ज्ञानमात्र से उनकी प्राप्ति नहीं हो सकती। भूमिका तथा अवस्था की प्राप्ति के लिए बाह्य-त्याग तथा सात्त्विक आहार-विहार की भी परम आवश्यकता होती है। श्रद्धापूर्वक भगवन्नाम-जप से भी सिद्धावस्था तथा भूमिका की प्राप्ति हो जाती है, इसपर विशेष विचार 'भगवन्नाम-जप' नाम के लेख में देखना चाहिए।

भगवन्नाम-जप

श्रद्धा, प्रीति, तन्मयता की आवश्यकता

'हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥'

(नारद० पु० पूर्वार्ध प्र० पा० ४१।१५)

'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥'(गी० १०।१०)

अर्थ—भगवान् का नाम ही, नाम ही, नाम ही मेरा जीवन है, कलियुग में नाम को छोड़कर दूसरी गति नहीं है, नहीं है, नहीं है ।

उन निरन्तर मुझमें मन लगाये हुए प्रेमपूर्वक भजन करनेवाले भक्तों को मैं तत्त्वज्ञान देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त हो जाते हैं ।

'अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी । उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी ॥
जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ । नाम जीहँ जप जानहिं तेऊ ॥
चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ । कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ ॥
साधक नाम जपहिं लय लाएँ । होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ ॥
सादर सुमिरन जे नर करहीं । भव बारिधि गोपद इव तरहीं ॥'

इन शास्त्रवचनों से यह अति स्पष्ट हो जाता है कि योग, ध्यान आदि साधनों के बाधक इस कराल कलिकाल में साधक के लिए सकलसिद्धिप्रसाधक भगन्नान-जप ही है । 'भजतां प्रीतिपूर्वकम्' 'सादर सुमिरन जे नर करहीं', साधक नाम जपहिं लय लाएँ' इन वाक्यों में 'प्रीति' 'लय' 'सादर' ये शब्द यह सिद्ध कर रहे हैं कि श्रद्धा-प्रेमपूर्वक मन लगाकर नाम जप करने पर ही सिद्धि की प्राप्ति होती है केवल नामजप से नहीं । योगसूत्र १।२८ 'तज्जपस्तदर्थभावनम्'

में भी स्पष्ट कहा है कि उसके नाम-जप के साथ उसके अर्थ की भावना भी करनी चाहिए।

नामापराध पर विचार

शङ्का—भगन्नाम-जप के साथ 'श्रद्धा-प्रीतिपूर्वक मन लगा कर करना चाहिए' यह शर्त लगाना ठीक नहीं, क्योंकि शास्त्रों में किसी प्रकार भी लिया गया भगवन्नाम सम्पूर्ण पापों का नाशक तथा यमयातना से रक्षक और कल्याण-कारक माना गया है—

'साङ्केत्यं परिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥
पतितः स्खलितो भग्नः सन्दष्टस्तप्त आहतः।
हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम्॥'

(भाग० ६।२।१४, १५)

अर्थ—संकेत, परिहास, गाने तथा पुकारने में भी वैकुण्ठनाथ का नाम-ग्रहण सम्पूर्ण पापों का नाश कर देता है। गिरते, फिसलते, टूटते, काटते, तपते, चोट खाते हुए पुरुष द्वारा परवश होकर 'हरि' ऐसा कहने पर पुरुष यम-यातना नहीं भोगता।

'भांय कुभांय अनख आलसहू। नाम जपत मंगल दिसि दसहू।
बिबसहु जासु नाम नर कहहीं। जन्म अनेक रचित अघ दहहीं॥'

यदि कहा जाये कि ये बचन नामजप में प्रवृत्ति कराने के लिए अर्थवाद-मात्र हैं इनका स्वार्थ में तात्पर्य नहीं है। यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि नाम-जप के फल को अर्थवाद मानना नाम-अपराध माना गया है—

'सन्निन्दाऽसति नामवैभवकथा श्रीशेशयोर्भेदधीः-
अश्रद्धा गुरुशास्त्रवेदवचने नाम्न्यर्थवादभ्रमः।
नामास्तीति निषिद्धवृत्तिविहितत्यागौ च धर्मान्तरैः-
साम्यं नामजपे शिवस्य च हरेर्नामापराधा दश॥'

अर्थ—सन्तों की निन्दा करना, नाममाहात्म्य की कथाओं को असत्य मानना, भगवान् विष्णु और शंकर में भेदबुद्धि करना, गुरु, शास्त्र और वेद के वचनों में अश्रद्धा करना, नामजप के फल में अर्थवाद का भ्रम होना, मेरे पास भगवन्नाम है (ऐसा अभिमान करके) निषिद्ध आचरण और विहित का त्याग करना, नामजप को दूसरे धर्मों के समान मानना ये दश नामापराध भगवान् विष्णु और शंकर के नामजप में माने गये हैं।

समाधान—कुछ विद्वानों का कहना है कि पूर्वोक्त भागवत के श्लोकों में ही किसी प्रकार से भी लिये गये भगवन्नाम को केवल पापनाशक तथा नरक-यातनारक्षक ही बताया है, कल्याणकारक नहीं। भागवत में अजामिल के प्रसंग में पूर्वोक्त श्लोक आये हैं। पुत्र के व्याज से लिये गये भगवन्नाम द्वारा अजामिल के भी केवल पापों का ही नाश हुआ, कल्याण तो हरिद्वार में जाकर साधना करने पर ही हुआ था, ऐसा भागवत में ही स्पष्ट लिखा है—

'गङ्गाद्वारमुपेयाय मुक्तसर्वानुबन्धनः।
स तस्मिन् देवसदन आसीनो योगमाश्रितः॥'

(भाग० ६।२।३९)

अर्थ—पीछे के सभी बन्धनों से मुक्त हुआ अजामिल हरिद्वार गया, उस देवसदन (तीर्थ) में उसने योग का आश्रय लिया।

इससे यही सिद्ध होता है कि श्रद्धा, प्रेम रहित किसी भी प्रकार से लिया गया भगवन्नाम केवल पापनाशक, यमयातना से रक्षक होता है और श्रद्धा, प्रेम तथा तन्मयता से लिया गया भगवन्नाम कल्याणकारी होता है। यदि ऐसा न माना जाये तो शास्त्रों में जो श्रद्धा, प्रेम तथा तन्मयता का कथन है उसकी सार्थकता सिद्ध न होगी तथा शास्त्रवचनों में विरोध उपस्थित होगा। अतः कुभाव से लिये गये नाम को भी कल्याणकारी कहनेवाले शास्त्रवचनों की सङ्गति यही लगानी चाहिए कि प्रथम तो उनके पाप का नाश ही होता है जिससे शुद्ध अन्तःकरण होने पर वे श्रद्धा-प्रेमपूर्वक नामजप करने लग जाते हैं और उनका भविष्य में कल्याण हो जाता है। ऐसा ही अजामिल का हुआ।

अन्य विद्वानों का कहना है कि कुभाव आदि से एकवार भी लिया गया भगवन्नाम पूर्व के सभी पापों का नाश कर देता है, यदि व्यक्ति फिर पाप न करे तो उसका कल्याण हो जाता है। पुनः पुनः पाप करने पर पुनः पुनः लिया गया नाम पाप का ही नाश करता रहेगा, कल्याण नहीं होगा।

अन्य विद्वानों का कहना है कि मरते समय कुभाव आदि से भी लिया गया नाम पापनाश तथा कल्याण दोनों कर देता है, क्योंकि नाम ने अपनी शक्ति से सम्पूर्ण पापों का नाश कर दिया, नया पाप करे ऐसा अवसर ही नहीं आया, अतः उसका कल्याण हो जाता है।

अन्य विद्वानों का कहना है कुभाव आदि से लिया गया नाम सामान्यरूप से पाप का नाश करता है और श्रद्धा-प्रेम-पूर्वक लिया गया नाम विशेषरूप से पाप-नाश करता है। यदि आगे पाप न किया जाये और श्रद्धा-प्रेमपूर्वक नाम-जप करता रहे, तो पाप-वासना का नाश होता है, इसके बाद भयंवद्भक्ति का उदय होता है, तब कल्याण होता है।

कुछ नामजप करनेवाले सच्चे साधकों के सम्मुख एक प्रसिद्ध सन्त के साथ उक्त विद्वानों के मतों पर विस्तारपूर्वक विचार कर रहा था। उनमें से सन्तस्वभाव के एक सच्चे साधक ने कहा—

'भाँय कुभाँय अनख आलसहू। नाम जपत मंगल दिसि दसहू ॥'
'बारेक नाम जपत जग जेऊ। होत तरन तारन नर तेऊ ॥'

'आश्चर्ये वा भये शोके क्षते वा मम नाम यः।
व्याजेन वा स्मरेद्यस्तु स याति परमां गतिम् ॥' (ब्रह्मपुराण)

अर्थ—जो मनुष्य आश्चर्य, भय, शोक, क्षत आदि की स्थिति में किसी बहाने से भी मेरा नाम-स्मरण करता है वह परमगति को प्राप्त होता है।

इन शास्त्र वचनों में कुभाव आदि से एक वार भी लिया गया नाम पाप-नाशक ही नहीं किन्तु परमगति देनेवाला बताया है। भगवन्नाम की इस महिमा में जरा भी सन्देह करना या जरा भी सङ्कुचित अर्थ करना तो नाम-महिमा में अर्थवाद की कल्पना करना ही कहा जायेगा, यह तो नामापराध ही

होगा, क्योंकि दश नामापराधों में एक नामापराध है 'नाम्न्यर्थवादभ्रमः'। इससे तो नरक में ही जाना पड़ेगा—

'अर्थवादं हरेर्नाम्नि संभावयति यो नरः।
स पापिष्ठो मनुष्याणां नरके पतति स्फुटम् ॥'

अर्थ—जो नर भगवान् के नाम में अर्थवाद की सम्भावना करता है, वह मनुष्यों में महापापी है, निश्चय ही वह नरक में पड़ता है।

उनके इन वचनों को सुनकर उनकी भगवन्नामनिष्ठा से भीतर से प्रसन्न बाहर से गम्भीर-मुद्रापन्न होकर मैंने पूछा कि आप को २० वर्षों से मैं भली भाँति जानता हूँ। इन २० वर्षों में आप ने एक बार नहीं, किन्तु करोड़ों बार कुभाव से नहीं सद्‌भाव से भगवान्नाम लिया है। आप सत्य सत्य बताइये कि क्या आपका कल्याण हो गया ? दूसरे का कल्याण करने में आप समर्थ हो गये ? मेरा भी कल्याण कर सकते हैं तो करके दिखाइये।

मेरे इस प्रकार कहने पर उन्होंने स्वीकार किया कि यह सत्य है कि २० वर्षों में मैंने करोड़ों बार सद्‌भाव से नामजप किया है तो भी दूसरों को तारने की बात तो बहुत दूर रही, मैं स्वयं भी अभी तक नहीं तर पाया। इसका एक-मात्र कारण यह है कि जितनी श्रद्धा तथा तन्मयता से नामजप करना चाहिए वैसा मैं नहीं कर पाया। सच्चे सरलभाव से कहे सदुत्तर को सुनकर प्रसन्न-मुद्रापन्न होकर मैंने कहा कि इस प्रकार का सदुत्तर देकर आपने-अपने मुखार-विन्द से ही यह स्वीकार कर लिया कि श्रद्धा-प्रेमपूर्वक तन्मयता से लिया गया नाम ही कल्याणकारी होता है। मेरे युक्तियुक्त वचन को सुनकर तथा अपनी अनुभूति से समर्थन पाकर मौन-आलम्बन द्वारा उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया।

पूर्वोक्त दश नामापराधों में नाम को अन्य धर्मकार्यों के समान मानना भी एक अपराध माना है 'धर्मान्तरैः साम्यम्'। इसपर विचार करने पर यही अर्थ निकलता है कि नाम पर सर्वोपरि 'श्रद्धा' होनी चाहिए। इससे तो यही सिद्ध होता है कि नामजप में 'श्रद्धा' की शर्त लगाना या आवश्यकता बताना नामा-

पराध नहीं, किन्तु श्रद्धा की शर्त न लगाना या आवश्यकता न वताना ही नामापराध है।

श्रद्धापूर्वक नाम-जप करनेवाले भी जो साधक खान, पान आदि के शास्त्रीय विधि-निषेधों का पालन नहीं करते, और ऐसा मानते हैं कि इनका पालन करना तो नाम को सर्वसमर्थ मानने में सन्देह करना है, नाममहिमा को घटाना है। उन साधकों से प्रार्थना है कि 'नामास्तीति निषिद्धवृत्तिविहितत्यागौ' अर्थात् नाम के वल पर शास्त्रनिषिद्ध आचरण करना और शास्त्रविहित आचरण का परित्याग करना, इन दो नामापराधों पर ध्यान दें। इन दोनों पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि नाम-जप को कल्याण का मुख्य साधन मानना तो ठीक है, किन्तु अन्य साधनों की अवहेलना करना ठीक नहीं। अन्य साधनों की अवहेलना से नामापराध वन कर नाममहिमा घटती है, उनका आदर करने से नहीं।

आदरणीय विश्वनाथ चक्रवर्ती, गिरिधरलाल शर्मा आदि विद्वानों ने भागवत ६।२ में नामापराधों पर विस्तार से विचार किया है, जिज्ञासुओं को अवश्य देखना चाहिए।

अनेक बार नामजप की आवश्यकता

शङ्का—भगवान् के एक नाम में ही यह सामर्थ्य है कि उसका एक वार भी उच्चारण करने से मनुष्य तरणतारण हो जाता है—

'बारेक नाम जपत जग जेऊ। होत तरनतारन नर तेऊ।'

'सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम्।
बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति॥'

अर्थ--जिसने एक वार भी 'हरि' इन दो अक्षरों का उच्चारण किया, उसने मोक्ष-प्राप्ति के लिए कमर कस ली।

समाधान--पहले कहा जा चुका है कि जिन्होंने एक बार नहीं हजार-हजार बार लगातार वर्षों श्रद्धापूर्वक नाम का उच्चारण किया है वे भी अपने अनु-भव से यही कहते हैं कि दूसरों को तारने की बात ही क्या स्वयं हम ही तर

नहीं पाये। अतः अनुभवविरुद्ध होने से उक्त अर्धाली और श्लोक में कथित एक बार का अर्थ मरणकाल में उच्चारण किया गया एक बार समझना चाहिए।

दूसरी बात यह है कि यदि एक बार के नाम के उच्चारण से ही सम्पूर्ण पापों का संहार और जीव का संसारसागर से उद्धार हो जाता हो तो अल्प तथा महान् पापों से उत्पन्न रोगों का नाश करने के लिए पाप की अल्पता-महानता के अनुसार मृत्युञ्जय-जप की न्यूनाधिक संख्या का विधान न किया जाता। गायत्री के २४ लाख मन्त्र का एक पुरश्चरण होता है, 'हरे राम' मन्त्र के ३॥ करोड़ जप से ब्रह्महत्यादि पाप नष्ट होकर मनुष्य मुक्त हो जाता है, ऐसा जो कलिसन्तरण उपनिषद् में कहा है वह सब व्यर्थ हो जायेगा।

कर्मों से नाम-जप की विशेषता

शङ्का—पापों की मात्रा के अनुसार नाम-जप की संख्या का विधान मानने पर तो नाम-जप भी अन्य पुण्य कर्मों के अनुष्ठान के समान ही वाणी से किया जानेवाला पुण्यकर्मानुष्ठान ही सिद्ध होगा, ऐसी दशा में नाम में पुण्य कर्म से क्या विशेषता रह जायेगी ?

समाधान—शास्त्रीय पुण्यकर्मानुष्ठान में जाति, देश, काल आदि के नियमों का पालन करना अत्यावश्यक है। इनके नियमों का पालन किये बिना पुण्य-कर्मानुष्ठान पापनाशक न होकर पाप-उत्पादक भी हो सकते हैं। किन्तु भगवन्नाम-जप में जाति आदि के नियम-पालन की आवश्यकता नहीं—

'ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः स्त्रियः शूद्रान्त्यजातयः।
यत्र तत्रानुकुर्वन्ति विष्णोर्नामानुकीर्तनम्॥
सर्वपापविनिर्मुक्तास्तेऽपि यान्ति सनातनम्।
न देशकालनियमः शौचाचारविनिर्णयः॥
कालोऽस्ति यज्ञदाने वा स्नाने कालोऽस्ति सज्जपे।
विष्णुसङ्कीर्तने कालो नास्त्यत्र पृथिवीपते॥

गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन्वापि पिबन्भुञ्जपंस्तथा ।
कृष्ण कृष्णेति संकीर्त्य मुच्यते पापकञ्चुकात् ॥
अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा ।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥'

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, स्त्री, शूद्र, अन्त्यज जाति के भी लोग जहाँ-तहाँ भगवन्नाम-संकीर्तन करते रहते हैं, वे भी समस्त पापों से विनिर्मुक्त होकर सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। नाम-जप में देश, काल, शौचाचार आदि का नियम नहीं। यज्ञ, दान, पुण्यस्नान में और (विधिपूर्वक अनुष्ठानरूप) सत् जप के लिए शुद्ध कालादि की आवश्यकता है, भगवन्नाम-जप में नहीं। चलते, फिरते, खड़े रहते, ऊंघते, खाते, पीते 'कृष्ण' 'कृष्ण' ऐसा संकीर्ततन करके मनुष्य पापरूपी केंचुल से छूट जाता है। अपवित्र हो या पवित्र सभी अवस्थाओं में कमलनयन भगवान् का स्मरण जो करता है, वह बाहर भीतर पवित्र हो जाता है।

शङ्का—'कालोऽस्ति सज्जपे' अर्थात् सत्-जप में काल का नियम है ऐसा जब स्पष्ट कहा है तब नाम-जप में कालादि का नियम नहीं, ऐसा कहना परस्पर विरुद्ध है।

समाधान—'सज्जपे' यहाँ जप में 'सद्' शब्द लगाकर यह बताया है कि साधारण रीति से नाम-जप में नहीं, किन्तु विधिपूर्वक अनुष्ठानरूप में किये जानेवाले जप में ही कालादि नियम की अपेक्षा है। इसी अभिप्राय से तुलसीदासजी ने भी कराल-कलिकाल में जप को भी साधन नहीं माना—

'एहि कलिकाल न साधन दूजा। जोग जग्य जप तप व्रत पूजा ॥'(७।३०)

कुछ विद्वानों का कहना है कि गुरु द्वारा दिये गये मन्त्रविशेष का स्नान आदि से पवित्र होकर पवित्र देश-काल में जप करने का विधान है उसी को यहां 'सज्जप' शब्द से कहा है, सर्वसाधारण भगवन्नाम को नहीं। यही कारण है कि इस रहस्य को जाननेवाले गुरुजन अपने शिष्य को गुरुमन्त्र के अतिरिक्त सर्व-अवस्था में जप करने योग्य छोटा सा भगवन्नाम अलग से बताते हैं।

नाम-जप और उसके फल में भेद

'विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।
उपांशु स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥' (मनु० २।८५)

अर्थ—विधिपूर्वक किये गये यज्ञ से नाम-संकीर्तनरूप यज्ञ दस गुना श्रेष्ठ है, उपांशु जप सौगुना तथा मानसिक जप हजारगुना श्रेष्ठ है ।

इस श्लोक में मनु महाराज ने नामजप के वाचिक, उपांशु और मानसिक ये तीन भेद बताये हैं । जो जप वाणी से इतनी जोर से बोलकर किया जाता है कि जिसे दूसरे लोग भी सुन सकते हैं उस जप को वाचिक जप कहते हैं । जो जप ओठ हिलाते हुए इतने मन्द-स्वर से किया जाता है कि दूसरे लोग नहीं सुन सकते, जप करनेवाला ही सुन पाता है, उसे उपांशु जप कहते हैं । जो जप केवल मन से ही किया जाता है उसे मानसिक जप कहते हैं ।

वाचिक से उपांशु और उपांशु से मानसिक जप का दसगुना अधिक फल बताने का कारण यह है कि इनमें उत्तरोत्तर मन का सम्बन्ध भगवन्नाम से अधिक रहता है और संसार से सम्बन्ध अधिक कटता है । देखिये—बातचीत करते हुए संसारी मनुष्य संसार के कार्य और संसार के पदार्थों का चिन्तन जैसे करते रहते हैं । वैसे ही अभ्यासशील साधक वाणी से नाम-संकीर्तन करते हुए संसार के कार्य तथा संसार के पदार्थों का चिन्तन कर सकता है, परन्तु पूर्णतया संसार के कार्य में संलग्न हो जाने पर उपांशु जप बन्द हो जाता है । इससे यह सिद्ध हो जाता है कि उपांशु जप तभी हो सकता है जब वाचिक जप की अपेक्षा संसार का कार्य कम किया जाये और भगवन्नाम में मन अधिक लगाया जाये ।

इस विवेचन से यह भी शिक्षा मिलती है कि संसार का अधिक कार्य करते हुए वाचिक जप ही करना चाहिए, इस धोखे में नहीं रहना चाहिए कि उस समय भी मेरा उपांशु या मानसिक जप चलता रहता है ।

संसार का कार्य करते रहने की बात तो दूर रही, संसार के पदार्थ का मन से चिन्तन होते रहने पर भी मानसिक जप वैसे ही नहीं हो सकता जैसे

वाणी से अन्य सांसारिक बातें करते समय वाणी से वाचिक नाम-जप नहीं किया जा सकता। मन से मानसिक जप तो तभी होगा जब मन में भगवन्नाम को छोड़ कर अन्य का चिन्तन न हो। ऐसी दशा में यह सिद्ध हो जाता है कि उपांशुजप की अपेक्षा भी मानसिक जप में संसार के सम्बन्ध का अधिक त्याग और भगवन्नाम से अधिक सम्बन्ध होता है, क्योंकि उपांशु-जप में भी संसार का कुछ कार्य तथा सांसारिक पदार्थ का चिन्तन हो सकता है, मानसिक जप में नहीं। अतः इसका हजारगुना फल बताना ठीक ही है।

भ्रम-निवारण

'मानसिक जप हजारगुना श्रेष्ठ है' इसे पढ़, सुन कर अधिक फल के लोभ से मानसिक जप के अनधिकारी साधक भी 'मानसिक जप ही हम करेंगे' ऐसा निश्चय करके उपांशु और वाचिक जप का परित्याग कर देते हैं। उनसे जब हम यह पूछते हैं कि जब आप मानसिक जप करने बैठते हैं तब आप का मन भगवन्नाम को छोड़ कर अन्य चिन्तन तो नहीं करता? तब कहते हैं शायद घंटे भर में सब मिलाकर २-४ मिनट भगवन्नाम का चिन्तन होता हो बाकी समय तो अन्य का ही चिन्तन चलता रहता है।

यह उत्तर सुन कर हम उनसे पुनः प्रश्न करते हैं कि एक व्यक्ति को आपने मंदिर में ४ से ५ बजे तक बैठने को कहा, उसी समय वह बाजार में भ्रमण करता हुआ आप को मिला। ऐसी दशा में उस व्यक्ति द्वारा हजार बार शपथ करके कहने पर भी जब आप यह नहीं मानते कि वह व्यक्ति ४ से ५ बजे तक मंदिर में बैठा रहा, तब ५६-५८ मिनट अन्य का चिन्तन मन करता रहा ऐसा स्वयं अनुभव करके भी यह कैसे मानते हैं कि मन एक घंटे मानसिक जप करता रहा? अधिक लाभ के लोभ से तो आप वाचिक, उपांशु जप के लाभ से वञ्चित रह गये।

इसके विपरीत एक साधक झांझ, करताल बजाकर वाणी द्वारा उच्च स्वर से नाम-संकीर्तन में इतना तन्मय हो जाता है कि बाजे-गाजे के साथ कोलाहल करती हुई पास से निकल कर जाती हुई बारात का भी पता उसे नहीं लगता।

अल्पफलप्रदायक कहे जानेवाले ऐसे वाचिक जप का मानसिक जप से कम फल नहीं होता। इसका एकमात्र कारण यही है कि जिस जप या साधना द्वारा साधक के मन का भगवान् से अधिक सम्बन्ध जुटता हो और संसार से सम्बन्ध कटता हो वही जप या साधना श्रेष्ठ मानी जाती है, साधनाओं में स्वरूपतः श्रेष्ठता अश्रेष्ठता नहीं होती।

नाम-जप में रस क्यों नहीं आता

शङ्का—हमें श्रद्धापूर्वक निष्काम भाव से नाम-जप करते हुए २० वर्ष हो गये तो भी अभी तक नाम-जप में रस नहीं आता, भगवान् में तथा उनके नाम में प्रीति नहीं हुई तथा संसार की आसक्ति ज्यों की त्यों बनी हुई है, इसका क्या कारण है ?

समाधान—आप अपनी वस्तुस्थिति को ठीक-ठीक नहीं समझते, इसलिए ऐसी शङ्का करते हैं। अनेकों सच्चे साधक इसी प्रकार की शङ्का करते हैं, जब हम उनसे पूछते हैं कि प्रारंभ में जब आपने नामजप करना शुरू किया था तब जैसे थोड़ी देर में ही मन उकता जाता था वैसे ही अब भी उकता जाता है ? क्या प्रथम की तरह भगवान् और उनके नाम का स्मरण तथा उच्चारण किये बिना दो चार दिन भी आप रह सकते हैं ? संसार के कार्य तथा पदार्थ का परित्याग करके १-२ दिन के लिए भी आप सत्संग, संकीर्तन आदि में नहीं जाते थे क्या आज भी वैसी ही स्थिति बनी हुई है ?

मेरे इन सभी प्रश्नों का उत्तर 'नहीं' के रूप में जब वे देते हैं तब हम कहते हैं इससे यह सिद्ध हो गया कि आपको ऐसी शङ्का अपनी वस्तुस्थिति को न समझने के कारण ही होती है। क्योंकि ऐसा कभी हो ही नहीं सकता कि कोई सच्चा साधक २० वर्षों तक श्रद्धापूर्वक निष्काम भाव से नाम-जप या अन्य कोई साधना करे और कुछ भी लाभ न हो।

प्रश्न—आप का कथन ठीक है, तो भी विशेष उल्लेखनीय लाभ तो नहीं हुआ, इसका कारण क्या है ?

उत्तर--पापकर्म के दो परिणाम होते हैं, एक तो पापकर्मों से अशुभ अदृष्ट उत्पन्न होता है जिससे कालान्तर या जन्मान्तर में दुःखरूप फल भोगना पड़ता है। दूसरा बारम्बार पापकर्मों को करने से उनके संस्कार दृढ़ होकर पापवासना हृदय में जम जाती है। नाम-जप के भी दो परिणाम होते हैं, एक तो नाम-जप से पाप का नाश होता है। दूसरा बारम्बार नामजप करने से नामजप के संस्कार दृढ़ होकर नामवासना हृदय में जम जाती है।

जब नामवासना हृदय में जम जाती है तभी पापवासना का विनाश होता है, इसके बाद भी श्रद्धा तथा प्रेमपूर्वक नामजप करते रहने पर नामजप में रस आने लगता है और भगवान् में भक्ति तथा भगवान् के नाम में विशेष प्रीति होने लगती है, जिससे संसार की आसक्ति मिटने लगती है, ऐसा क्रम है। अतः जिन लोगों के पापकर्म जितने अधिक होते हैं या पापवासना जितनी अधिक सुदृढ़ होती है उसके अनुरूप नामजप तथा नामवासना सुदृढ़ होने पर ही उनका विनाश होता है। इसी लिए किसी को अल्प काल में एवं किसी को दीर्घकाल में लाभ प्रतीत होता है।

नाम-जप में मन स्थिर क्यों नहीं होता ?

प्रायः नाम-जप करनेवाले यह प्रश्न किया करते हैं कि श्रद्धापूर्वक भी नाम-जप करते समय मन स्थिर क्यों नहीं होता ? इस प्रश्न का उत्तर प्रायः सन्त यही देते हैं कि नामी या नाम में प्रीति न होने के कारण मन स्थिर नहीं होता। अपने उत्तर की सत्यता सिद्ध करने के लिए कहते हैं—देखो, तुम्हारी पुत्र, पैसा और प्रतिष्ठा में प्रीति है, इनमें तुम्हारा मन लग जाता है कि नहीं। अनुभूतिमूलक युक्तियुक्त उत्तर सुनकर प्रश्नकर्ता को तत्काल तो बहुत सन्तोष हो जाता है, परन्तु स्थिति ज्यों की त्यों बनी रहती है, क्योंकि १०-२० वर्ष बीत जाते हैं, फिर-फिर वही प्रश्न करते रहते हैं, सन्त वही उत्तर देते रहते हैं। अतः यह विचारणीय हो जाता है कि इस उत्तर में कुछ कमी है, या उनके साधन में कुछ कमी है ?

इस प्रश्न का सत्य उत्तर पाने के लिए यह देखना होगा कि जिनमें मनुष्य की अति प्रीति है, ऐसे पुत्र, पैसा आदि में मन स्थिर हो जाता है क्या ? इसका

उत्तर युक्ति आदि से देने की आवश्यकता नहीं, जिसकी पुत्र आदि जिस पदार्थ में अति प्रीति हो उस पदार्थ को नेत्र के सम्मुख रख कर उसी में मन स्थिर करके देखे। तब वह यही उत्तर देगा कि घंटे दो घंटे की तो बात ही क्या ५–१० मिनट भी ऐसी स्थिति नहीं रही कि उस प्रीति के आस्पद पदार्थ में ही मन स्थिर रहा हो बीच में किसी अन्य पदार्थ पर न गया हो।

इस प्रयोग से यह सिद्ध हो जाता है कि जिस पदार्थ में प्रीति ही नहीं अति प्रीति होती है, उसमें भी मन स्थिर नहीं होता है, अतः मन की स्थिरता के लिए प्रीति का होनामात्र पर्याप्त नहीं, इसके लिए तो जहाँ जहाँ मन जाये वहाँ वहाँ से खींच कर प्रेमास्पद में लगाने का अभ्यास भी अपेक्षित है। यही कारण है कि गीता तथा योगसूत्र में मन का निग्रह करने के लिए निरन्तर दीर्घकाल पर्यन्त अभ्यास करना आवश्यक बताया है—

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।' (गी० ६।३५)
'यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥' (गी० ६।२६)
'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।' (यो० सू० १।१२)
'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।' (यो०सू० १।१४)

ऐसा होने पर भी इतना अवश्य मानना होगा कि जिस पदार्थ में प्रीति होती है उसमें अभ्यास द्वारा मन स्थिर करने में वह प्रीति सहायक होती है, इसी लिए मन स्थिर करने के लिए आलम्बन का विधान करते समय अपने को जो अभिमत अर्थात् जिसमें प्रीति हो, रुचिकर हो, ऐसा आलम्बन लेने का विधान योगसूत्रकार ने किया है 'यथाभिमतध्यानाद्वा' (यो०सू० १।३९) इसी दृष्टि से सन्तजन प्रीति को मन की स्थिरता में हेतु कह देते हैं; परन्तु पूर्ण सत्य उत्तर यह है कि प्रीति के साथ साथ निरन्तर दीर्घकालीन अभ्यास के विना मन स्थिर नहीं होता।

इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि नाम-जपजन्य सुख सात्त्विक सुख है, सात्त्विक सुख प्रारम्भ में तो विषतुल्य अरुचिकर, परिणाम में ही हितकर होता है इसमें अभ्यास द्वारा ही रमण अर्थात् रसास्वादन होता है—

'अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ।'
'यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।।' (गी० १८।३६, ३७)

सारांश—इस कराल कलिकाल में विविध विधानों से युक्त अनुष्ठान का करना संभव न होने के कारण देश, काल, जाति आदि विधाननिरपेक्ष नाम-जप ही कल्याण का मुख्य साधन है। नाम-जप में श्रद्धा, प्रेम तथा तन्मयता की परम आवश्यकता है, अन्यथा इनका विधान करनेवाले शास्त्रवचनों से विरोध होगा ? नामापराध-प्रतिपादक शास्त्रवचनों की पर्यालोचना करने पर श्रद्धा की ही नहीं किन्तु अन्य शास्त्रीय विधि-निषेधपालन की आवश्यकता भी सिद्ध होती है। पूर्व के पाप और पापवासना के तारतम्य के अनुसार नाम-जप और नामवासना की सुदृढ़ता होने पर ही उनका सम्यक् विनाश होता है। इसके बाद ही भगवान् में विशुद्ध भक्ति होती है। वाचिक, उपांशु, मानसिक जपों में से जिस प्रकार के जप से संसार का सम्बन्ध अधिक कटता हो और भगवान् में अधिक सम्बन्ध जुड़ता हो वही जप श्रेष्ठ है। नाम-जप में मन को स्थिर करने के लिए श्रद्धा और प्रीति के साथ साथ निरन्तर दीर्घकालपर्यन्त अभ्यास की भी आवश्यकता होती है।

अन्तमति सो गति

'अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥
यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥
तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥'

(गी० ८।५—७)

अर्थ---जो मनुष्य अन्तकाल में मेरा ही स्मरण करता हुआ शरीर त्याग-कर जाता है, वह मेरे भाव को प्राप्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं है। हे अर्जुन ! (इसका कारण यह है कि) अन्त काल में जिस जिस भाव का स्मरण करता हुआ मानव शरीर का त्याग करता है उस उस भाव को ही प्राप्त होता है, (क्योंकि) सदा उसी भाव से भावित रहा है। इसलिए तुम सदा सर्वदा मेरा स्मरण करो और युद्ध भी करो। इस प्रकार मुझमें मन और बुद्धि का अर्पण करनेवाले तुम निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होओगे।

शङ्का—अन्तमति के अनुसार गति यदि होती है तो क्या नूतन निर्मित सुन्दर सुखदायक गृह में अति आसक्तचेतन जीव गृह का चिन्तन करते हुए मर जाये तो वह जड़ मकान बन जायेगा ? 'इस जीवन में किये गये कर्मों का जन्मान्तर में कोई फल नहीं भोगना पड़ता' इस भाव का चिन्तन करते हुए मरनेवाले को क्या कर्मों का फल नहीं मिलेगा ? 'मैं ही जगत् का कर्ता ईश्वर हूँ" इस भाव का चिन्तन करते हुए मरनेवाला क्या जगत् का कर्ता ईश्वर हो जायेगा ? इन प्रश्नों का उत्तर 'हाँ' में नहीं दिया जा सकता। ऐसी दशा में अन्तमति के अनुसार गतिप्रतिपादक गीता के उक्त श्लोकों का वास्त-विक भाव क्या है ?

समाधान—यद्यपि चेतन जीव जड़ मकान तो नहीं बन सकता तथापि अपने कर्मानुसार चूहा, छिपकली, पुत्र-पुत्री आदि के रूप में उसी मकान में उत्पन्न होकर मकान को प्राप्त हो ही सकता है। जैसे मकान मालिक मकान को अपना मानता है, वैसे ही चूहा, छिपकली आदि भी उस मकान को अपना मानते हैं।

रही बात कर्मफल न मिलने की और ईश्वर होने की, सो तो कभी भी संभव नहीं हो सकता। अत: 'अन्तमति सो गति' इस नियम का संशोधित रूप यह समझना चाहिए कि जिस भाव की प्राप्ति होना संभव है एवं युक्ति, श्रुति और स्मृति से सम्मत है, उस भाव का चिन्तन करते हुए मरने पर ही उस भाव की प्राप्ति होती है।

यहाँ 'सदा तद्भावभावित:' शब्द का प्रयोग करके साधक को सावधान किया गया है कि ऐसा प्रमाद मत करना कि 'अन्त समय में भगवान् का स्मरण कर लेंगे अभी क्या जल्दी है।' क्योंकि अन्तकाल में भी प्राय: उसी का स्मरण कर पाओगे जिसका स्मरण सदा करोगे, इसलिए जीवनकाल में सदा भगवान् का स्मरण करते रहना चाहिए।

शङ्का—कुछ विद्वान् यहाँ ऐसा अर्थ करते हैं कि सदा जिस जिस भाव का स्मरण करता है, अन्तकाल में भी उसी का स्मरण करता हुआ शरीर त्याग करता है, उसी भाव को प्राप्त होता है। हमें यही अर्थ ठीक लगता है, क्योंकि सम्पूर्ण जीवन भगवान् का स्मरण करनेवाले भगवद्भक्त द्वारा अन्तकाल में काकतालीय न्याय से कदाचित् शूकर-कूकर का स्मरण हो जाये तो सम्पूर्ण जीवन भगवद्भक्ति करनेवाले की ऐसी महती दुर्गति होना कैसे संभव है? एवं सम्पूर्ण जीवन मांस, मदिरा, प्रमदा (वेश्या) का सेवन और स्मरण करनेवाले आसुरी सम्पदा युक्त मनुष्य द्वारा कदाचित् अन्तकाल में भगवान् का स्मरण हो जाये तो उसकी सद्गति होना भी उचित प्रतीत नहीं होता।

समाधान—'सदा जिस भाव का चिन्तन स्मरण किया जाये उसके अनुसार गति होती है' यह तो सामान्य नियम है हां, जिसका प्रतिपादन गीता १४।१८ में इस प्रकार किया है—

'ऊर्ध्वंगच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥'

अर्थ—सत्त्वगुण में स्थित पुरुष ऊपर जाते हैं, रजोगुण में स्थित राजस पुरुष मध्य में रहते हैं और तमोगुण में स्थित पुरुष नीचे जाते हैं।

यही बात पुनः यहाँ कहने की क्या आवश्यकता है? इसके लिए अन्तकाल के स्मरण की भी क्या आवश्यकता है? अतः यहाँ अन्तकाल के स्मरणविशेष से गतिविशेष का प्रतिपादन किया गया है, ऐसा ही मानना चाहिए। इसी नियम के आधार पर जगदाधार परमेश्वर का सम्पूर्ण जीवन चिन्तन और स्मरण करनेवाले राजा भरत को मृगयोनि की प्राप्ति हुई थी, यह पुराणप्रमाण से सिद्ध है। सम्पूर्ण जीवन अमुक सिद्धासन आदि में बैठ कर भजन, ध्यान करनेवाला व्यक्ति यदि चित्रग्रहण करने के अन्तिम क्षण में अन्य आसन से स्थित हो जाये तो उसका वैसा चित्र बन जाता है। इस युक्ति से भी अन्तमति के अनुसार गति का होना उचित ही सिद्ध होता है।

शङ्का—एक व्यक्ति मृत्यु होने से आधा या एक घंटा पूर्व तक भगवान् का स्मरण करता रहा, बाद में मूर्छित हो गया। मूर्छित अवस्था में ही मृत्यु हो गई। ऐसी दशा में उसको भगवत्प्राप्ति होगी या नहीं? यदि कहा जाये कि जब तक होश में रहा उस समय के अन्तिम क्षण को यहां अन्तकाल शब्द से लिया गया है, उसमें उसने भगवत्स्मरण किया ही है, अतः उसे भगवान् की प्राप्ति अवश्य होगी।

यह कथन ठीक न होगा, क्योंकि होश-काल के अन्तिम क्षण को यदि अन्तकाल माना जाये और उसमें होनेवाले स्मरण के अनुसार गति मानी जाये तो सभी की गति स्मरण के अनुसार ही होगी, क्योंकि होश रहते तो किसी न किसी का स्मरण होता ही रहता है। ऐसी दशा में 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः' (गीता १४।१८) में कथित गुणों के अनुसार गति किसी की भी संभव न होने के कारण उसका प्रतिपादन करना व्यर्थ सिद्ध होगा।

समाधान—होश रहते किसी का 'स्मरण या स्फुरण होते रहना' दूसरी बात है और 'स्मरण करना' दूसरी बात है, 'अन्तकाले च मामेव' इस वाक्य में 'स्मरन्' पद का अर्थ 'स्मरण करता हुआ' है। इससे यह अर्थ निकलता है कि अन्तकाल में अर्थात् होश के अन्तिम क्षण में प्रीति या आसक्ति के कारण या अन्य किसी दृष्ट-अदृष्ट कारणविशेष से जिसका स्मरण करता हुआ जो शरीर त्याग करता है उसे तो उसी भावविशेष की प्राप्ति होती है, किन्तु होश के अन्तिम क्षण में स्वाभाविक नियम से जिसे किसी का स्मरण या स्फुरण होता है उसे तो 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः' इत्यादि नियमानुसार देवलोक, मनुष्यलोक, और अधोलोक की ही प्राप्ति होती है। इस प्रकार इसका प्रतिपादन भी सार्थक ही है, निरर्थक नहीं।

कुछ विद्वानों का कहना है कि 'अन्तकाल' पद का अर्थ होश का अन्तिम-क्षण नहीं, किन्तु प्राणवियोग का (मृत्यु का) क्षण ही लेना चाहिए। इस प्रकार मृत्युक्षण में जिसका स्मरण करता हुआ जो जायेगा उसे उसी भाव की प्राप्ति होगी और जो मृत्युक्षण में मूर्छित होगा उसे 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः' के अनुसार ऊर्ध्व देवलोक, मध्य मनुष्यलोक और अधः पशु-पक्षियों की योनि प्राप्त होगी। इस प्रकार दोनों का प्रतिपादन सार्थक है।

शङ्का—प्रायः टीकाकारों ने 'ऊर्ध्वं' पद का अर्थ देवलोक से लेकर ब्रह्म-लोक तक के लोक किया है, 'मध्ये' पद का अर्थ मनुष्यलोक किया है और 'अधः' पद का अर्थ पशु आदि योनि किया है। यहाँ यह शङ्का होती है कि जो सच्चे साधक हैं, निष्काम भाव से सारे जीवन साधना करते रहे हैं, अतएव सत्त्वस्थ हैं, किसी कारणविशेष से उनकी साधना पूरी नहीं हो पाई, उस अधूरी साधना को पूरी करने के लिए साधनधाम मनुष्य-योनि में उनका पुनः जन्म हुआ। यहाँ ये साधक 'सत्त्वस्थाः' होते हुए भी इनकी गति ऊर्ध्वं देव-लोकादि में न होकर मध्ये अर्थात् मनुष्यलोक में होती है एवं सत्त्वस्थ राजा भरत 'अधः' पशु (मृग) योनि में पैदा होते हैं। अतः 'ऊर्ध्वं', 'मध्ये' 'अधः' इन तीनों पदों का क्रमशः देवलोकादि लोक, मनुष्यलोक तथा पशुयोनि जो अर्थ किया गया है वह ठीक नहीं बैठता।

समाधान—टीकाकारों ने जैसा अर्थ किया है प्रायः वैसी ही गति होती है, इसलिए उनका किया अर्थ भी ठीक ही है। तो भी आप की शङ्का का समाधान यह है कि ऐसे विशेष स्थलों की भी सङ्गति लग जाये, इसके लिए 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति' का अर्थ 'उन्नतियोग्य स्थान की प्राप्ति' कर लेना चाहिए। इस प्रकार भावार्थ का परिष्कार करने का आधार श्रीरामानुजाचार्य ने उपस्थित किया है—

'सत्त्वस्था ऊर्ध्वं गच्छन्ति क्रमेण संसारबन्धान्मोक्षं गच्छन्ति'

अर्थ—सत्त्वगुण में स्थित पुरुष ऊपर जाते हैं अर्थात् क्रमशः संसार-बन्धन से मुक्ति को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार भावार्थ का परिष्कार कर लेने पर निष्काम भाव से साधना करनेवाले सत्त्वस्थ साधकों को अपनी अधूरी साधना को पूरी करने के लिए साधनधाम मनुष्य-योनि की प्राप्ति भी ऊर्ध्वगति ही मानी जायेगी तथा राजा भरत को पशु (मृग) योनि की प्राप्ति भी ऊर्ध्वगति ही समझनी चाहिए, क्योंकि मृग-योनि में भी उन्नति का मूल कारण विवेक और वैराग्य जैसा उन्हें प्राप्त था वैसा तो देवयोनि में भी शायद ही किसी को प्राप्त होता हो। राजा भरत को मृगयोनि की प्राप्ति में तो एक विशेष कारण अन्तकाल में मृगसावक का स्मरण ही था।

सारांश—अन्तमति के अनुसार गति होने का नियम भी शास्त्रसम्मत संभव स्थलों के लिए ही है, असंभव स्थलों के लिए नहीं। जिसका सदा जीवन में स्मरण किया जाता है उसी का प्रायः अन्तकाल में भी स्मरण करना संभव होता है। अतः अन्तकाल में भगवान् का स्मरण करने के लिए जीवनकाल में सदा उनका स्मरण करते रहना चाहिए। अन्तकाल में स्मरण कर लेंगे इस प्रकार प्रमाद नहीं करना चाहिए। अन्तकाल में 'स्मरण या स्फुरण होना' दूसरी बात है अथवा 'स्मरण करना' दूसरी बात है। अतः जिसका स्मरण करता हुआ मरता है उसी भाव की प्राप्ति होती है, बाकी सब को तो अपने गुणकर्मानुसार ऊर्ध्व तथा अधोगति की प्राप्ति होती है। ऊर्ध्वगति के भावार्थ में 'उन्नतियोग्य स्थान की प्राप्ति' इस प्रकार परिष्कार कर देने से सत्त्वस्थों को मनुष्यलोक की प्राप्ति होने पर भी नियम में व्यभिचार नहीं होता।

महापापी भी ज्ञानी, भक्त

शङ्का—अन्तकाल में या जीवनकाल में 'महापापी भी ज्ञानी या भक्त हो सकता है क्या ?' ऐसा सन्देह होता है। सन्देह का कारण एक तो यह है कि मनोविज्ञानानुसार जो कलतक महापापी तथा दुराचारी रहा है, उसका एकदम ज्ञानी या भक्त बनना संभव नहीं दीखता। दूसरा कारण यह है कि शास्त्रों में भी पापरहित पुण्यवान् पुरुषों को ही ज्ञान एवं भक्ति की प्राप्ति बताई है, महापापी दुराचारी को नहीं—

'ज्ञानमुत्पद्यते पुसां क्षयात् पापस्य कर्मण:।'

(महा० शा० प० २०४।८)

'न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।' (गी० ९।१५)

'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।' (गी० ७।१६)

'येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥' (गी० ७।२८)

अर्थ—पापकर्मों के नष्ट होने पर पुरुषों को ज्ञान होता है। दूषित (पाप) कर्म करनेवाले मूढ़ नीच मनुष्य मुझको नहीं भजते। पुण्यकर्म करनेवाले चार प्रकार के (आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु तथा ज्ञानी) मनुष्य मेरा भजन करते हैं। जिन पुण्यकर्म करनेवालों का पाप नष्ट हो गया है, द्वन्द्वमोह से मुक्त दृढ़व्रतवाले वे पुरुष मेरा भजन करते हैं।

'राम भगत जग चार प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा।'

'पापवन्त कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ॥'

किन्तु शास्त्रों में ही इसके विपरीत सुदुराचारी महापाप करनेवाले की भी ज्ञान तथा भक्ति द्वारा कल्याण की प्राप्ति भी बताई है—

'अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥' (गी० ४।३६)

'अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥' (गी० ९।३०)
'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥' (गी० ९।३१)

अर्थ—यदि सब पापियों से भी अधिक पाप करनेवाले हो तो भी ज्ञानरूप नौका से सम्पूर्ण पापरूप समुद्र से भली भाँति तर जाओगे। यदि अतिशय दुराचारी भी अनन्यभाक् होकर मुझे भजता है तो उसे साधु ही मानना चाहिए, क्योंकि वह सम्यक् निश्चयवाला है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और शाश्वत शान्ति को प्राप्त होता है। हे अर्जुन ! निश्चय ही जानो कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।

'जो कोऊ होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तक मोही ॥
तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना ॥'

वाल्मीकि, अजामिल आदि महापापी भी अनन्यभक्त हो गये थे, ऐसा पुराणों में प्रसिद्ध ही है। इस प्रकार शास्त्रों में ही दोनों प्रकार के वचन तथा कथाएँ प्राप्त होने के कारण सन्देह होता है कि क्या महापापी भी ज्ञानी या भक्त हो सकता है ?

समाधान—महापापी सुदुराचारी को ज्ञान तथा भक्ति से कल्याण की प्राप्ति बतानेवाले पूर्व में उल्लिखित गीता ४।३६ तथा ९।३०,३१ के श्लोकों में प्रयुक्त पदों पर पूरा ध्यान देकर अर्थ समझने से ही उक्त शङ्का का समाधान हो जायेगा। देखिये—

(१) गीता ४।३६ तथा ९।३० इन दोनों ही श्लोकों में 'अपि चेत्' इन दो पदों का प्रयोग किया है, जिनका अर्थ यह है कि 'यदि कदाचित् ऐसा हो जाये तो'। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इन श्लोकों का तात्पर्य महापापी सुदुराचारी को ज्ञान या भक्ति की प्राप्ति हो सकती है, इसका प्रतिपादन करने में नहीं है, किन्तु ज्ञान और भक्ति की महिमा का प्रतिपादन करने में है कि उन दोनों की ऐसी महिमा है कि सब पापों का नाश होकर मनुष्य कल्याणभागी बन

जाता है। 'अपि चेत्' ये दोनों पद स्पष्ट कह रहे हैं कि 'प्रायः ऐसा संभव नहीं', जिसका ध्वनित अर्थ यही होता है कि प्रायः पापरहित पुण्यकर्मवालों को ही ज्ञान या भक्ति की प्राप्ति होती है, महापापी दुराचारी को नहीं। अतः पूर्व में उल्लिखित पुण्यात्माओं को ज्ञान, भक्ति की प्राप्ति बतानेवाले गीता ७।१५,१६ तथा २८ के वचनों से कुछ भी विरोध उपस्थित नहीं होता।

(२) 'अनन्यभाक्' पद का अर्थ अनन्यभाव से निरन्तर चिन्तन भजन होना नहीं, किन्तु 'अब मैं भगवान् का भजन ही करूंगा' ऐसा शुभनिश्चय करना ही यहाँ अनन्यभाक् पद का अर्थ है। इसका कारण यह है कि उसी श्लोक में 'सम्यग्व्यवसितो हि सः' इस प्रकार उसके व्यवसाय अर्थात् निश्चय को ही सम्यक् बताया है न कि अनन्य भजन चिन्तन को।

(३) 'साधुरेव स मन्तव्यः' इन पदों द्वारा उसे साधु मानने के लिए जो कहा है, उससे भी यही सिद्ध होता है, क्योंकि यदि उससे अनन्यभाव से निरन्तर भजन और चिन्तन होने लगा हो तब तो वह साधु है ही। जो साधु हो उसे साधु मानने के लिए कहना तो वैसे ही उपहासयोग्य है जैसे कि अग्नि को 'अग्नि मानो' ऐसा कहना उपहासयोग्य है।

(४) 'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा' इन पदों से भी उक्त अर्थ की ही पुष्टि होती है, क्योंकि ये पद कह रहे हैं कि वह 'शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है' जिसका स्पष्ट अर्थ यही होता है कि वह अभी धर्मात्मा अर्थात् निरन्तर भजन तथा चिन्तन करनेवाला है नहीं, किन्तु 'मैं अब भगवान् का भजन चिन्तन ही करूंगा' ऐसे सम्यक् निश्चयवाला होने के कारण शीघ्र ही निरन्तर भजन तथा चिन्तन करनेवाला धर्मात्मा बन जायेगा।

(५) 'न मे भक्तः प्रणश्यति' इन पदों से भी उक्त अर्थ की ही पुष्टि होती है, क्योकि यदि उससे निरन्तर अनन्यभाव से चिन्तन भजन होने लग गया होता तब तो वह सिद्ध ही हो गया होता फिर नष्ट होने की आशङ्का भी संभव न होने के कारण 'मेरा भक्त नष्ट नहीं होता' यह कथन करने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

अजामिल तो उसी जन्म में बड़ा पुण्यात्मा था। भागवत में कहा है कि यह अजामिल वेदशास्त्र के 'ज्ञान से युक्त, शील-सदाचरण-सद्‌गुणों का घर; व्रतधारी, मृदुस्वभाव, इन्द्रियों का दमन करनेवाला, सत्यवादी, मन्त्रवेत्ता; पवित्र, गुरु, अग्नि, अतिथि तथा वृद्ध पुरुषों की सेवा करनेवाला, अहंकाररहित; सर्वभूतसुहृद, साधु, थोड़ा बोलनेवाला, दूसरों के गुणों में दोष न देखनेवाला था—

'अयं हि श्रुतसम्पन्नः शीलवृत्तगुणालयः।
धृतव्रतो मृदुर्दान्तः सत्यवान्मन्त्रविच्छुचिः॥
गुर्वग्न्यतिथिवृद्धानां शुश्रूषुर्निरहंकृतः।
सर्वभूतसुहृत् साधुर्मितवागनसूयकः ॥'

(भाग० ६।१।५६,५७)

अजामिल ने बीच में जो पाप किये थे उनका विनाश मरणकाल में उच्चारण किये भगवन्नाम से हो गया था। अन्त में भी गङ्गाद्वार (हरिद्वार) में जाकर साधना की थी तभी भक्ति की प्राप्ति होकर मुक्ति हुई थी। यह बात भी भागवत में अति स्पष्ट लिखी है—

'गङ्गाद्वारमुपेयाय मुक्तसर्वानुबन्धनः।
स तस्मिन्देवसदन आसीनो योगमाश्रितः॥
प्रत्याहृतेन्द्रियग्रामो युयोज मन आत्मनि॥' (भा० ६।२।३९,४०)

अर्थ—अपने पीछे के सभी बन्धनों से मुक्त हुआ अजामिल हरिद्वार चला गया। उस देवसदन (तीर्थ) में योगसाधना का आश्रय लेकर बैठ गया। उसने अपनी इन्द्रियों को विषयों से हटाकर मन को परमात्मा में लगा दिया।

वाल्मीकिजी भी पूर्वजन्म में प्राचेतस के पुत्र थे, बड़े पुण्यात्मा थे। पूर्वजन्म के पुण्यों के परिपाक से सप्त-ऋषियों का समागम हुआ। उनके उपदेश से दीर्घकालपर्यन्त भगवन्नाम का उलटा 'मरा मरा' जप करने से उनके इस जन्म के भी समस्त पाप विनष्ट हो गये थे। तभी भक्ति की प्राप्ति तथा मुक्ति हुई।

इस प्रकार अजामिल और वाल्मीकिजी भी पापविनिर्मुक्त होकर ही भक्त हुए हैं। महापापी रहते हुए भक्त या ज्ञानी नहीं हुए। इसी प्रकार अन्य

कथाओं में जहाँ स्पष्ट पापनाश का कथन न किया हो वहाँ भी जन्मान्तरीय पुण्यपरिपाक से या तीर्थ के अलौकिक प्रभाव से या सन्त की अहैतुकी कृपा से प्रथम पाप का विनाश होकर ही भक्ति या ज्ञान की प्राप्ति हुई है, ऐसा अध्याहार कर लेना चाहिए। अन्यथा शास्त्रवचनों से, मनोविज्ञान से और स्वानुभूति से विरोध होगा।

सारांश—पूर्व में उल्लिखित गीता ७।१५,१६ तथा २८ एवं महाभारत शान्तिपर्व २०४।८ के श्लोकों से स्पष्ट है कि पापरहित पुण्यवान् पुरुषों को ही ज्ञान तथा भक्ति की प्राप्ति होती है। गीता ४।३६, ९।३०,३१ श्लोकों का तात्पर्य महापापी दुराचारी को ज्ञान तथा भक्ति की प्राप्ति बताने में नहीं, किन्तु ज्ञान और भक्ति की महिमा बताने में ही है, यह बात दोनों जगह 'अपि चेत्' पदों के प्रयोग से अति स्पष्ट है। गीता ९।३० में प्रयुक्त 'अनन्यभाक्' पद का अर्थ 'अब भगवान् का ही भजन करूँगा' ऐसा निश्चय ही है 'अनन्यभाव से निरन्तर भजन चिन्तन होना' नहीं, यह बात 'सम्यग् व्यवसितः' पद से स्पष्ट हो जाती है। ऐसे निश्चयवाला व्यक्ति भी तत्क्षण ही पापविनिर्मुक्त होकर साधु नहीं बन जाता, यह बात भी 'साधुरेव स मन्तव्यः', 'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा' आदि वाक्यों पर गंभीर विचार करने से स्पष्ट हो जाती है। वाल्मीकि, अंजामिल आदि पापी भी पापविनिर्मुक्त होकर ही भक्त वा ज्ञानी हुए हैं। अतः महापापी रहते कोई ज्ञानी या भक्त नहीं होता, पापरहित पुण्यात्मा होने पर ही ज्ञानी और भक्त होता है, यही सिद्धान्त है।

ज्ञानी मूढ़ न कोउ

जैसे महापापी ज्ञानी या भक्त नहीं हो सकता वैसे ही ज्ञानी और भक्त महा-पापी या मूढ़ नहीं हो सकता। अतः जो लोग रामायण में निम्नलिखित दोहे का यह अर्थ करते है कि संसार में ज्ञानी या मूर्ख कोई नहीं है, जब रघुनाथजी जिसे जैसा कर देते हैं वह वैसा ज्ञानी या मूर्ख हो जाता है—

'बोले बिहसि महेस तब ग्यानी मूढ़ न कोइ।
जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ॥'

(रा० मा० १।१२४)

ऊपर लिखा अर्थ करने में सबसे बड़ा यह दोष है कि इससे रघुनाथजी में विषमता तथा नैर्घण्य (निठुरता) का दोष आता है। बिना कारण ही किसी को अज्ञानी (मूढ़) बना देना भला समदर्शी रघुनाथजी के द्वारा कैसे संभव है? दूसरा बड़ा दोष यह है कि 'ज्ञान प्राप्त करो', 'अज्ञान का विनाश करो' इत्यादि विधि-निषेध-शास्त्र निरर्थक हो जाते हैं। पुरुषार्थवाद के लिए कोई स्थान ही नहीं रह जाता। तीसरा दोष है—प्रकरण का विरोध। देखिये—

यह दोहा रामचरितमानस में नारद-मोह के प्रकरण में आता है। भक्त-भयहारी जनहितकारी प्रभु जब लोककल्याणकारी कौतुक (लीला) करना चाहते हैं तब अपनी इच्छा से माया द्वारा अपने अनन्य ज्ञानी भक्तों में ही कौतुक सम्पादनमात्र के लिए कुछ काल तक काम, क्रोधरूप मूढ़ता का संचार कर देते हैं, सर्वसाधारण मनुष्यों में नहीं। यह बात निम्न लिखित दोहा चौपाइयों से स्पष्ट हो जाती है—

'भरद्वाज कौतुक सुनहु हरि इच्छा बलवान्।' (रा०मा० १।१२७)
'मुनि कर हित मम कौतुक होई।'
'श्रीपति निज माया तब प्रेरी।'

'मुनि कौतुकी नगर तेहि गयऊ।' 'प्रगटेउ प्रभु कौतुकी कृपाला।'
'विप्रवेष देखत फिरहिं परम कौतुकी तेउ।' (१।१३३)
'निज माया की प्रबलता करषि कृपानिधि लीन्हि।' (१।१३७)

'जब हरि माया दूरि निवारी। नहि तहँ रमा न राजकुमारी ॥
मृषा होऊ मम श्राप कृपाला। मम इच्छा कह दीनदयाला ॥
यह प्रसङ्ग मैं कहा भवानी। हरि माया मोहहिं मुनि ज्ञानी ॥
प्रभु कौतुकी प्रनत हितकारी। सेवत सुलभ सकल दुःखहारी ॥'

इन दोहा चौपाइयों में अनेकों बार कौतुक (लीला तमाशा) पद का प्रयोग करके सूचित कर दिया है कि यह सब भगवान् ने लीला करने के लिए अपनी इच्छामात्र से अपनी निजी माया को प्रेरित करके करवाया है। इसी लिए 'हरि इच्छा' 'मम इच्छा' 'हरि माया' 'निज माया तब प्रेरी' 'जब हरि-माया दूरि निवारी' पदों का प्रयोग किया है।

दुःखदायी अविद्या माया से अलगाव करने के लिए 'हरिमाया' 'निजमाया' इस प्रकार माया में 'हरि' 'निज' विशेषण लगाये हैं। यह माया हरि की प्रेरणा से ही भक्त के सिर पर सवार होकर कार्य करती है और हरि की प्रेरणा से ही दूर होती है, अपने पुरुषार्थ से नहीं। वह माया भक्त को संसारसागर में भ्रमानेवाली नहीं होती केवल भगवान् की लीला-सामग्री की सम्पादक भक्त-कल्याणकारकमात्र होती है। यह बात निम्नलिखित काकभुशुण्डि के वचनों से स्पष्ट हो जाती है—

'इतना मन आनत खगराया। रघुपति प्रेरित व्यापी माया ॥
सो माया न दुखद मोहि काहीं। आन जीव इव संसृत नाहीं ॥
नाथ यहाँ कछु कारन आना। सुनहु सो सावधान हरिजाना ॥
हरि सेवकहि न व्याप अविद्या। प्रभु प्रेरित व्यापइ तेहि विद्या ॥
ताते नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़इ विहंगवर ॥
प्रेमाकुल प्रभु मोहि विलोकी। निज माया प्रभुता तब रोकी ॥'

लीला-सम्पादक जनमनमोहक इसी माया को प्रेरित करके मायापति

रघुपति ने सीताजी के मुख से लक्ष्मणजी को अति कटु वचन कहलाये थे तथा लक्ष्मणजी के मन को भी डाँवाडोल कर दिया था—

'मरम वचन जब सीता बोला । हरिप्रेरित लछिमन मन डोला ॥'

इस रहस्य को न जानने के कारण ही कुछ लोग इस अर्धाली को अशुद्ध मान कर इस प्रकार शुद्ध करने का दुःसाहस करते हैं—

'मरम बचन जब सीता बोली । हरि प्रेरित लछिमन मति डोली ॥'

वस्तुतः तुलसीदासजी का अभिप्राय यहाँ यह है कि हरि की प्रेरणा से सीता ने जब मरम बचन बोला तब हरि की प्रेरणा से लक्ष्मण का मन डोला। इससे सीताजी तथा लक्ष्मणजी दोनों ही दोषरहित हो जाते हैं। 'हरिप्रेरित' पद को बीच में इसी लिए रखा गया है। अन्यथा सीताजी को स्वतन्त्र बोलनेवाली मान कर 'बोला' की जगह 'बोली' पद कर देने पर सीताजी महान् दोषी सिद्ध होती हैं। अध्यात्मरामायण में सीताजी ने क्या कटु शब्द कहे थे वे स्पष्ट लिखे हैं कि—'हे लक्ष्मण ! मैं जान गई तुम भरत के भेजे हो, राम के मर जाने पर मुझे प्राप्त करना चाहते हो' इत्यादि। ऐसे कटु वचन तो अपने विश्वस्त देवर के प्रति आज की मूर्ख स्त्रियाँ भी स्वतन्त्रता से नहीं कह सकतीं, फिर भला जगज्जननी सीताजी लक्ष्मणजी जैसे देवर के लिए जो पादवन्दना करने के कारण नूपुर ही पहचानते हैं, चूड़ामणि आदि नहीं पहचानते, ऐसे देवर के प्रति ऐसे कटु वचन कैसे कह सकती हैं।

अति दुष्कर कार्य करने की प्रतिज्ञा को सुनकर सत्यवादी के वचनों पर सज्जन पुरुष भी जल्दी विश्वास नहीं करते, यह एक सामान्य नियम है। ऐसा होने पर भी वसुदेवजी की सत्यवादिता ऐसी थी कि 'मैं (पिता) अपने सद्यः उत्पन्न सन्तानों को आप (कंस) को दे दिया करूँगा। ऐसे दुष्कर कार्य की प्रतिज्ञा करनेवाले वसुदेवजी के वचनों पर कंस जैसे अति असज्जन ने भी विश्वास करके देवकी को छोड़ दिया। इसका कारण बताते हुए शुकदेवजी ने कहा 'कंसस्तद्वाक्यसारवित्'। वसुदेवजी ने मुख से प्रतिज्ञामात्र ही नहीं की, उसे

करके दिखाया भी। प्रथम सन्तान उत्पन्न होते ही उसे कंस को दे दिया। 'निरीह सन्तान का हनन यह नहीं करेगा' इस भ्रम से प्रथम सन्तान दे दी हो सो बात नहीं, किन्तु प्रथम, द्वितीय और तृतीय सन्तानों का हनन कर डालने पर भी चौथी, पाँचवीं, तथा छठी सन्तानें भी समर्पित कर दीं। इसका कारण बताते हुए भी शुकदेवजी कहते हैं 'सोऽनृतादतिविह्वलः' अर्थात् वे झूठ बोलने से बहुत घबराते थे। फिर, उन्होंने आठवीं सन्तान क्यों नहीं दी ? उसे गोकुल में नन्दबाबा के यहाँ क्यों छिपा कर रख दिया ? इन सब प्रश्नों का उत्तर भी यही है कि 'लीलासम्पादक जनमनमोहक माया द्वारा हरि की प्रेरणा से ही ऐसा सब किया गया।' इसका स्पष्ट सङ्केतभागवत में इस प्रकार है—

'ततश्च शौरिर्भगवत्प्रचोदितः।
सुतं समादाय स सूतिकागृहात्॥' (भाग० १०।३।४७)

अर्थ—तब भगवान् द्वारा भली भाँति प्रेरित वसुदेवजी सूतिकागृह से पुत्र को लेकर बाहर चले।

इसी प्रकार परमज्ञानी सनकादिकों को भी भगवत्प्रेरणा से ही क्रोध आया था जिससे उन्होंने जय और विजय को शाप दिया था—'शापो मयैव निमित-स्तदवैत विप्राः' (भा० ३।१६।२६)।

सारांश—इस प्रकार प्रकरणानुसार विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है—

'बोले बिहसि महेस तब ज्ञानी मूढ़ न कोइ।
जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ॥'

यह कथन अपने अनन्य ज्ञानी भक्तों द्वारा लीला-सामग्री-सम्पादक स्थलों के लिए ही है, जनसाधारण के लिए नहीं। अन्यथा भगवान् में वैषम्य तथा नैर्घृण्य दोष होगा एवं पुरुषार्थ की व्यर्थता होने से समस्त विधि-निषेधात्मक शास्त्रों की निरर्थकता होगी।

धर्म का स्वरूप

धर्माचरणजन्य पुण्य द्वारा अधर्माचरणजन्य पाप का निराकरण होकर शुद्ध-अन्तःकरण होने पर ही भक्ति या ज्ञान द्वारा मुक्ति की प्राप्ति होती है तथा धर्माचरण द्वारा ही अधर्माचरण का निवारण होकर शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक तथा सामाजिक उन्नति होती है। इस प्रकार लौकिक तथा अलौकिक उन्नति जिससे होती हो, वही धर्म का स्वरूप है—

'यतोऽभ्युदयनिश्श्रेयससिद्धिः स धर्मः'

इस धर्मस्वरूप के प्रतिपादक धर्मसूत्र का कुछ विस्तार करते हुए व्यासजी ने कहा है—भूतों की उत्पत्ति, अहिंसा (स्थिति), धारण (पालन) के लिए धर्म का प्रवचन किया गया है, इसलिए जिससे भूतों की उत्पत्ति, अहिंसा तथा धारणा होती हो वही धर्म का स्वरूप है। प्राणियों द्वारा धारण करने के कारण इसे धर्म कहते हैं तथा धर्म द्वारा ही प्रजा का धारण होता है, इसलिए भी इसे धर्म कहते हैं—

'प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यत्स्यात् प्रभवसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥
अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यत् स्यादहिंसासंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥
धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः।
यत्स्याद् धारणसयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥'

(महाभा० शा० प०–१०९।१०–१२)

धर्मसूत्र में अभ्युदय अर्थात् सभी प्रकार की लौकिक उन्नति को भी सम्मिलित किया गया है, इतना ही नहीं, किन्तु उसका नाम प्रथम लिया गया है। इसका कारण यह है कि अन्न, जल, औषध, वस्त्र के बिना भूख-प्यास, रोग, शीतादि से पीड़ित, शत्रुत्रास-त्रसित, मानसिक चिन्ताव्यथित, पारिवारिक तथा सामाजिक कलहों से कलुषित लौकिक उन्नतिरहित व्यक्ति कभी भी निश्श्रेयस अर्थात् अलौकिक उन्नति (मुक्ति) की प्राप्ति नहीं कर सकता। इसी लिए लौकिक उन्नति के लिए अर्थशास्त्र, पाकशास्त्र, आयुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा वर्ण-आश्रम-परिवार-समाज-मर्यादा के प्रतिपादक स्मृतिरूप धर्मशास्त्र आदि अनेकानेक शास्त्रों की रचना शास्त्रकारों ने की है। अतः आधुनिक लोगों का यह आक्षेप सर्वथा

सारहीन है कि 'शास्त्रकारों ने तो केवल अलौकिक उन्नति पर ही ध्यान दिया है। लौकिक उन्नति की सर्वथा उपेक्षा ही की है'। वस्तुतः ऐसा आक्षेप करनेवालों ने एक छोटा सा पुराण भी कभी ध्यान से नहीं पढ़ा।

हाँ, यह बात अवश्य है कि शास्त्रकारों का मुख्य लक्ष्य निश्श्रेयस (मुक्ति) की प्राप्ति रहा है, तो भी इससे लौकिक उन्नति में किञ्चिद् भी अवनति नहीं हुई, बल्कि समुचित ऊर्ध्वगति ही हुई है। इसका कारण यह है कि मुक्तिरूप महान् लक्ष्य की प्राप्ति में बाधा न हो इसके लिए उसकी आधारभूता लौकिक उन्नति पर भी उन्होंने गंभीर विचार किया है। यही कारण है कि भोजन, जल-पान, मैथुन, सन्तान-उत्पादन, शयन आदि पशु-जीवनसाधारण आचरण पर भी गंभीर-विचार करके उनका विधान किया है। इसका विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिए मेरे द्वारा लिखित 'वैदिकचर्या-विज्ञान' का अध्ययन करना चाहिए।

जैसे भोजन का सामान्य लक्षण 'स्वास्थप्रद होना' है, तो भी व्यक्ति, परि-स्थिति, आयु, देश, काल, रुग्णता, अरुग्णता आदि के भेद से भोजन की बाह्य रूपरेखा, मात्रा आदि में भेद तथा परिवर्तन करना अनिवार्य होता है। इस रहस्य को जाननेवाले भेद तथा परिवर्तन को गुण ही मानते हैं अवगुण नहीं। वैसे ही धर्म का सामान्य लक्षण 'यतोऽभ्युदयनिश्श्रेयससिद्धिः स धर्मः' यह है, तो भी व्यक्ति, परिस्थिति, आयु, देश, काल, रुग्णता, अरुग्णता, वर्ण, आश्रम आदि के भेद से धर्म की बाह्य रूपरेखा में भेद तथा परिवर्तन करना अनिवार्य होता है। इस रहस्य को जाननेवाले उस भेद तथा परिवर्तन को गुण ही मानते हैं अवगुण नहीं। 'धर्म की बाह्य रूपरेखा भी सभी के लिए एक समान होनी चाहिए' क्योंकि मनुष्य मनुष्य सभी समान हैं, ऐसा समानपने का अभिमान करके समानता की माँग करनेवालों का कथन उन नादान—अज्ञानयुक्त बालकों के कथन के समान है जो भोजन की बाह्य रूपरेखा को सदा सबके लिए समान रखने की माँग करते हैं।

'ऐसा होने पर भी धर्माधर्म का निर्णय एकमात्र अनादि अपौरुषेय वेद प्रमाण से ही हो सकता है, अन्य प्रमाण से नहीं हो सकता' ऐसा जो सनातन-

धर्मावलम्बियों का कथन है उसमें क्या कारण है ? इस प्रश्न पर विस्तारपूर्वक गंभीर विचार 'जीवनचर्या-विज्ञान' की भूमिका में किया है, जिज्ञासु पाठक वहीं पठन करें।

धर्म की बाह्य रूपरेखा का परिवर्तन भी जनसामान्य के विज्ञान पर नहीं किया जा सकता। इतना ही नहीं, किन्तु वर्तमान के विश्वमान्य विज्ञान-विशेषज्ञों के विज्ञान पर भी नहीं किया जा सकता। इसका मुख्य कारण यह है अलौकिक फल के उत्पादक धर्म के बारे में लौकिक भौतिक विज्ञान-विशेषज्ञों को कुछ भी पता न होने के कारण उसकी बाह्य रूपरेखा में उनके विज्ञानानुसार परिवर्तन करना तो किसी प्रकार संभव ही नहीं।

लौकिक फल के उत्पादक धर्म की बाह्य रूपरेखा में भी उनके विज्ञानानुसार परिवर्तन करना हितकर न होगा, क्योंकि उनका भी विधान सर्वज्ञ ऋषियों ने शरीरविज्ञान, मनोविज्ञान, अर्थविज्ञान, परिवारविज्ञान, समाजविज्ञान आदि अनेकानेक विज्ञानों का समन्वय करके किया है। वर्तमान काल के विज्ञानविशेषज्ञ सर्वज्ञ न होने के कारण उन सभी विज्ञानों को पूर्णतया समझने में ही जब असमर्थ हैं; तब उनका समन्वय करके देश, काल आदि के अनुरूप समुचित परिवर्तन नहीं कर सकते। यही कारण है कि आधुनिक विज्ञानविशेषज्ञ जिस एक समस्या का समाधान करने के लिए अनुसन्धान करके जो विधान करते हैं, उससे उस समस्या का समाधान होने के साथ-साथ नई-नई अनेकों समस्याओं का उत्थान हो जाता है। देखिये---

डी० टी० टी० नाम के पदार्थ से फसलों की रक्षा होती है, साथ ही खाद्य-पदार्थ, वायुमण्डल तथा जल दूषित हो जाने से अनेक प्रकार की बीमारियों की उत्पत्ति होती है। यूरिया आदि रासायनिक खाद से अन्न का उत्पादन अधिक होता है; साथ ही खेतों की उत्पादन शक्ति को नुकसान और खाद्य पदार्थ स्वादहीन तथा रोग उत्पन्न करनेवाले हो जाते हैं। अंग्रेजी दवाएँ एक रोग का दमनकर अनेक रोगों का उत्पादन कर देती हैं। ये सब बातें अब भौतिक-विज्ञानविशेषज्ञ स्वयं ही स्वीकार करते हैं, इसी लिए तो उनके बहिष्कार और परिहार के लिए नये-नये आविष्कार कर रहे हैं।

अतः देश, काल आदि के कारण धर्म की वाह्य रूपरेखा में जो परिवर्तन करना अनिवार्य है उसका विचार भी सर्वज्ञ ऋषियों ने प्रथम से कर दिया है। वही परिवर्तन हितकर होने से सनातनधर्मावलम्बियों को स्वीकार करना चाहिए। कुछ लोगों का कहना है कि भौतिक विज्ञान के विशेषज्ञों के विज्ञानानुसार नहीं, किन्तु वर्तमान के बहुजनमान्य महापुरुषों के विज्ञानानुसार किये गये परिवर्तन को तो स्वीकार ही करना चाहिए। यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि उनका महापुरुष होना विवादग्रस्त है। हजार सौ हजार नर-नारी उन्हें महापुरुष मानते हैं तो लाख सौ लाख उन्हें महाकुपुरुष भी मानते हैं। इतना ही नहीं ५–१०–२० वर्ष में ही उनके दुराचार का समाचार जो अखबार द्वारा श्रवणगोचर होता है उससे तो पापाचार का सरदार भी शरम खाकर सिर झुका लेता है।

बहुजनमान्य महान् सन्त ही नहीं, किन्तु भगवान् कहे जानेवाले कुछ लोगों के विचार तो इतने सारहीन होते हैं कि उनके विचारानुसार यदि परिवर्तन कर दिया जाये तो संसार में भ्रष्टाचार और व्यभिचार का पारावार ही न रह जाये। उदाहरण के लिए देखिये—अपने को भगवान् कहलानेवाले रजनीश का कथन है कि पुरुष के मन में स्त्री के गुप्ताङ्गों के देखने की स्वाभाविक कौतूहलभरी लालसा रहती है, वह लालसा देखे बिना निवृत्त न होगी। इसलिए 'नग्नां स्त्रियं न निरीक्षेत' अर्थात् नङ्गी स्त्री को न देखे इस प्राचीन धर्म का परिवर्तन उनके विज्ञानानुसार 'नग्नां स्त्रियं निरीक्षेत' अर्थात् नग्न स्त्री को देखे इस प्रकार करना चाहिए।

सर्वज्ञ ऋषियों के विज्ञान से ही नहीं, किन्तु वर्तमान के अल्पज्ञ समाजविज्ञान तथा मनोविज्ञान के विशेषज्ञ इस विचार को संसार में भ्रष्टाचार तथा व्यभिचार का प्रसार करनेवाला मान कर स्वीकार नहीं करते। जो महापुरुष उक्त सभी दोषों से विनिर्मुक्त हैं, वे भी सर्वज्ञ न होने के कारण लौकिक तथा अलौकिक विज्ञानों के विशेषज्ञ नहीं हो सकते, अतः वे भी सर्वविज्ञानों का समन्वय करते हुए सर्वप्रकार के अहितकर कार्य का परिहार करके हितकर

परिवर्तन करने में असमर्थ हैं। इसलिए उक्त गुणों से युक्त सर्वज्ञ ऋषियों द्वारा कृत परिवर्तन ही स्वीकार करना चाहिए।

धर्मकर्म का मर्म

देश, काल, व्यक्ति तथा परिस्थिति के अनुरूप धर्म के वाह्य स्वरूप में परिवर्तन स्वीकार करने पर भी 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' इत्यादि पूर्वोक्त मूल स्वरूप में जरा भी परिवर्तन नहीं होता। इस रहस्य को न जानने के कारण जनसाधारण अज्ञ पुरुष ही नहीं, किन्तु शास्त्रज्ञपुरुष भी धर्मकर्म का मर्म समझने में मोहित हो जाते हैं। क्योंकि देश, काल आदि के भेद से कहीं सत्यवदन का, कहीं इसके विपरीत असत्यवदन का, कहीं सन्दिग्ध वदन का विधान शास्त्रों में पाया जाता है। उनका सम्यक् समन्वय न कर पाने के कारण शास्त्रज्ञ भी मोहित हो जाते हैं—

'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥'

(गी० ४।१६–१८)

अर्थ—कर्म क्या है और अकर्म क्या है ! इसका निर्णय करने में बुद्धिमान् पुरुष भी मोहित हो जाते हैं, इसलिए उस कर्म के मर्म को तुम्हें भली भाँति समझा कर कहूँगा, जिसे जानकर तुम अशुभ से छूट जाओगे। कर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए, विकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए तथा अकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए, क्योंकि कर्म की गति गहन है। जो मनुष्य कर्म में अकर्म देखता है और जो अकर्म में कर्म देखता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है, वह योगी समस्त कर्मों का करनेवाला है।

इन तीनों श्लोकों में से अन्तिम ४।१८ श्लोक की व्याख्या टीकाकार नाना प्रकार से करते हैं। श्रीनीलकण्ठाचार्य ने 'वस्तुतस्तु' इस प्रकार कह कर एक विशेष प्रकार का अर्थ किया है, वह अर्थ ही अधिक युक्तियुक्त होने से मेरा हृदय उसे ही स्वीकार करता है। वह अर्थ यह है कि 'जो कर्म में कर्म, अकर्म और विकर्म इन तीनों को देखता है एवं अकर्म में कर्म, अकर्म और विकर्म तीनों को देखता है तथैव विकर्म में कर्म, अकर्म और विकर्म तीनों को देखता है।' इस प्रकार का अर्थ स्वीकार करने पर ही ४।१७ में 'कर्म को जानना चाहिए; अकर्म को जानना चाहिए तथा विकर्म को जानना चाहिए' इस प्रकार कर्म, अकर्म और विकर्म तीनों का नाम पृथक्-पृथक् लेना तथा तीनों के साथ पृथक्-पृथक् 'बोद्धव्यं' पद देकर जोर डालना सार्थक होगा अन्यथा नहीं।

देखिये—एक व्यक्ति सत्य कहता है कि 'मेरे यहाँ शुद्ध गाय का घी मिलता है' यह सत्यवदन शास्त्रविहित होने से स्वरूपतः कर्म हैं, (१) जब स्वार्थसिद्धि के लिए यह सत्यवदनरूप कर्म किया जाता है तब कर्ममर्मज्ञ यहाँ कर्म में कर्म देखते हैं। (२) जब यही सत्यवदनरूप कर्म दूसरों का परोपकार करने की दृष्टि से किया जाता तब विद्वान् उस कर्म में अकर्म अर्थात् बन्धन का अहेतुत्व देखते हैं। (३) जब यही सत्यवदन कर्म दूसरों पर प्रहार करने के उद्देश्य से किया जाता है, तब नरक का हेतु होने से विद्वान् उस कर्म में विकर्म को देखते हैं।

मनुष्य की हिंसा करना सामान्यतः शास्त्रनिषिद्ध होने से स्वरूपतः विकर्म है। (१) यह विकर्म जब राजाज्ञा से धनप्राप्ति के लिए स्वार्थभाव से किया जाता है तब विद्वान् यहाँ विकर्म में कर्म को देखते हैं। (२) जब यही विकर्म प्रजारक्षणरूप परोपकार के भाव से किया जाता है तो बन्धन का हेतु न होने से विद्वान् यहाँ विकर्म में अकर्म को देखते हैं। (३) जब यही विकर्म दूसरों का अहित करने के उद्देश्य से किया जाता है, तब नरकहेतु होने से विद्वान् यहाँ विकर्म में विकर्म को देखते हैं।

'कुछ न करना चुपचाप बैठे रहना' लोक में स्वरूपतः अकर्म माना जाता है। (१) जब यह अकर्म किसी स्वार्थसिद्धि के उद्देश्य से शास्त्राज्ञानुसार किया

जाता है तब फल का हेतु होने से विद्वान् यहाँ अकर्म में कर्म को देखते हैं। (२) जब यही अकर्म कृतकृत्य होने कारण किया जाता है तब बन्धन का हेतु न होने के कारण विद्वान् यहाँ अकर्म में अकर्म को देखते हैं। (३) जब यही अकर्म दूसरों को धोखा देने के लिए किया जाता है तब नरक का हेतु होने से विद्वान् यहाँ अकर्म में विकर्म को देखते हैं।

सत्यवादिता का स्वरूप

देश, काल, व्यक्ति तथा परिस्थिति के भेद से धर्म के बाह्यरूप में कहाँ कब कैसा कितना परिवर्तन होता है, किसके लिए कौन सा वचन शास्त्र में कहा है, इसकी ठीक ठीक सङ्गति न जानने के कारण शास्त्रों का अध्ययन करनेवाले भी शास्त्रवचनों को पूर्वापर विरुद्ध मानकर शास्त्र पर अश्रद्धा करने लगते हैं। वस्तुतः वे शास्त्र-वचन पूर्वापर विरुद्ध होते नहीं, इस बात का दिग्दर्शन कराने के लिए ही सत्य बोलने के बारे में शास्त्रों में कितने प्रकार के वचन मिलते हैं, उनमें क्या संगति है, सो संक्षेप में यहाँ लिखते हैं—

'येऽन्यायेन जिहीर्षन्तो धनमिच्छन्ति कस्यचित् ।
तेभ्यस्तु न तदाख्येयं स धर्म इति निश्चयः ॥
अकूजनेन चेन्मोक्षो नावकूजेत् कथञ्चन ।
अवश्यकूजितव्यो वा शङ्केरन् वाप्यकूजनात् ॥
श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं सत्यादिति विचारितम् ।
यः पापैः सह सम्बन्धात् मुच्यते शपथादपि ॥'

(महाभा० शा० प० १०९।१४–१६)

अर्थ—जो मनुष्य अन्याय से किसी का धन छीन लेना चाहते हैं (उनके पूछने पर भी) उन्हें न बताये निश्चय यही धर्म है। यदि न बताने से छुटकारा मिल जाये तो किसी भी प्रकार न बताये, यदि अवश्य बताना ही पड़े अथवा न बताने पर भी उन्हें शङ्का हो जाये तो वहाँ असत्य बोल देना चाहिए वहाँ असत्य सत्य से श्रेष्ठ है। पापी मनुष्य के सम्बन्ध से झूठी शपथ खाकर भी जो छूट जाता है वह धर्म ही करता है ऐसा विचार कर निश्चित किया गया है।

ये वचन उन व्यक्तियों के लिए हैं जो व्यवहारपरायण हैं। व्यवहार में नित्य प्रति जिन्हें अच्छे बुरे मनुष्यों के साथ व्यवहार करना पड़ता है। यहाँ रहस्य यह है कि दुष्ट मनुष्य के साथ यदि ऊपर लिखा व्यवहार न किया जाय तो आप को मार कर धनहरण कर लेगा, जिससे अभ्युदय (लौकिक उन्नति) और निश्श्रेयस (अलौकिक उन्नति) का साधन शरीर ही नष्ट हो जाएगा। उधर वह दुष्ट लोक में पकड़ा जाने पर राजदण्ड का तथा परलोक में यमराज-दण्ड का भागी होगा। इस प्रकार दोनों के लिए लोक-परलोक में अवनति का हेतु होने कारण 'यतोऽभ्युदयनिश्श्रेयससिद्धिः स धर्मः' इस धर्म के मुख्य लक्षण के सर्वथा विपरीत होने से यहां सत्यवदन से असत्यवदन को श्रेष्ठ तथा धर्म कहा है।

इसी प्रकार २-४ वर्ष का बालक ज्वर पीड़ित होने पर भी दही आदि कुपथ्य पदार्थ खाने का आग्रह करता हो तो 'दही बिल्ली खा गई' ऐसा कह देना झूठ नहीं माना जाता, क्योंकि दही दे देने से उसका अहित होगा, ज्वर दोषपुक्त हो जायेगा। सत्य वचन के मर्म को न जाननेवाले कुछ लोगों का कहना है कि दही न देने से ही अहित से रक्षा हो जायेगी, साथ में असत्य बोलने की क्या आवश्यकता है? उनका यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि दही है ऐसा बताकर न देने पर तो बालक इतना रोयेगा कि उसी से ज्वर बढ़ जायेगा जिससे अहित से रक्षा न हो सकेगी। बालक को दही न देना तो आप के हाथ में है, परन्तु रोने न देना आपके हाथ में नहीं। इसी लिए सत्यवचन का लक्षण करते हुए कहा है—

'न तत्त्ववचनं सत्यं नातत्त्ववचनं मृषा।
सर्वभूतहितमत्यन्तं तत्सत्यमिति मतं मम॥'
(महाभा० शा० प० ३२९।१३)

अर्थ—यथार्थ वचन सत्य नहीं, अयथार्थ वचन असत्य नहीं, किन्तु जिससे सर्वभूतों का अत्यन्त हित हो वही सत्य है, ऐसा मेरा मत है।

'स्त्रीषु नर्मविवाहे च वृत्त्यर्थे प्राणसंकटे।
गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सितम्॥'
(भाग० ८।१९।४३)

अर्थ—(१) स्त्रियों में, विवाह के समय विनोद करते हुए (२) और प्राणों को सङ्कट में डाल देनेवाले धन के लिए (३) तथा गाय और ब्राह्मण की हिंसा को बचाने के लिए असत्य बोलना निन्दित नहीं।

(१) यहाँ पहला वचन विनोदप्रिय विनोदी स्वभाववाले पुरुषों के लिए है, विवाह में स्त्रियों से किया गया विनोद किसी प्रकार का अहित तो करता ही नहीं, किन्तु विवाह के आनन्द का वर्धक होने से अभ्युदय (लौकिक सुख) की उन्नति ही करता है।

(२) दूसरा वचन लोक-परलोक साधक प्राणों की रक्षा के लिए ही है, अर्थमात्र की प्राप्ति के लिए नहीं।

(३) तीसरा वचन सर्वकल्याणकारी गाय और ब्राह्मण की रक्षा करना सब का कल्याण करना ही है इस दृष्टि से कहा गया है।

'आत्महेतोः परार्थे वा नर्महास्याश्रयात्तथा।
न मृषा प्रवदन्तीह ते नराः स्वर्गगामिनः।'

(महाभा० अनु० १४७।१९)

अर्थ—अपने लिए अथवा दूसरों के लिए, हँसी मजाक का आश्रय लेकर भी जो झूठ नहीं बोलते वे मनुष्य स्वर्ग (मोक्ष) के भागी होते हैं।

यह वचन उन लोगों के लिए है जिन लोगों ने असत्य वचन के त्याग को या सत्यवचन को ही मोक्षप्राप्ति का मुख्य साधन स्वीकार करके उसका व्रत ले रखा है।

समष्टि-व्यष्टि-धर्म

युधिष्ठिर से झूठ बुलवाना—देश, काल, व्यक्ति, परिस्थिति के भेद से जैसे शास्त्रवचनों की सङ्गति होती है वैसे ही व्यष्टि तथा समष्टि के धर्मभेद से भी व्यवस्था होती हैं। देखिये—धर्म-कर्म मर्मज्ञ ही नहीं धर्मरक्षा के लिए ही अवतार लेनेवाले भगवान् ने कृष्णावतार में धर्मराज से असत्य बुलवाया। इसका कारण यह है कि जहाँ व्यष्टिधर्म का पालन समष्टिधर्म की रक्षा में बाधक हो वहाँ व्यष्टि-धर्म का त्याग करना ही सर्वहितकर होने से कर्तव्य माना जाता

है। यदि धर्मराज राजा युधिष्ठिर 'अश्वत्थामा मारा गया' ऐसा असत्य न बोलते तो द्रोणाचार्य शस्त्र का परित्याग न करते। उनके हाथ में शस्त्र रहते दुर्योधन की विजय ही होती, जिससे अधर्म का ही बोलबाला होता, जिससे समष्टि-धर्म की रक्षा में महान् बाधा होती, इसलिए धर्मरक्षक भगवान् ने धर्मराज से व्यष्टिधर्म का त्याग कराकर समष्टिधर्म की रक्षा की थी, ऐसा करना 'धारणाद् धर्मम्इत्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः' इस पूर्वोक्त धर्मलक्षण के अनुसार सर्वथा उचित ही था।

वृन्दा का पातिव्रत-भङ्ग करना—इसी प्रकार वृन्दा के व्यष्टि-धर्म पातिव्रत का भङ्ग भी समष्टि-पातिव्रत-धर्म की रक्षा के लिए ही धर्मरक्षक भगवान् ने किया था। क्योंकि वृन्दा का पति जालन्धर दैत्य अनेकानेक स्त्रियों का पातिव्रत धर्म बलात् नष्ट कर देता था। यहाँ तक कि जगदम्बा पार्वतीजी के साथ भी उसने अभद्र व्यवहार करने की चेष्टा की थी। उसकी पत्नी वृन्दा के पातिव्रत धर्म के प्रभाव से कोई उसे मारने में समर्थ न होता था। तब पतिव्रता शिरोमणि पार्वतीजी की प्रेरणा से संसार में समष्टि-पातिव्रतधर्म की रक्षा की दृष्टि से धर्मरक्षक भगवान् ने छल कर के वृन्दा का व्यष्टि-पातिव्रतधर्म भङ्ग कर दिया।

वृन्दा का दिया शाप शिरोधार्य करके पातिव्रतधर्म के अलौकिक चमत्कार को दिखाकर उसका ऐसा प्रचार कर दिया कि शायद अन्य किसी प्रकार से वैसा प्रचार हो ही नहीं सकता। जड़ को चेतन बना देने में सर्वसमर्थ जगदाधार चेतनों के भी चेतन प्रभु ने पत्थर बनकर यह दिखा दिया कि पातिव्रत धर्म में ऐसी सामर्थ्य है कि ईश्वर को पत्थर बना सकता है। ऐसी दशा में अल्प सामर्थ्यवाले क्षुद्र जीव को तो पतिव्रता स्त्री पर बुरी दृष्टि भी नहीं डालनी चाहिए।

बलि को छलना—यद्यपि राजा बलि स्वयं धर्मात्मा थे, तथापि उनके बल पर उनके अनुयायी दैत्य संसार की धर्ममर्यादाएँ नष्ट कर समष्टि-धर्म के बाधक हो रहे थे। बलि के राजा रहते उन्हें कोई मार नहीं सकता था। अतः धर्म-रक्षक प्रभु ने बलि को छलकर राज्यपद से भ्रष्ट कर दिया तथा असुरों को पराजित कराकर समष्टिधर्म की रक्षा की थी।

समष्टिधर्म की रक्षा से व्यष्टिधर्म की भी रक्षा हो जाती है, क्योंकि व्यष्टि समष्टि का ही एक अङ्ग है। वृन्दा और बलि राजा को तो व्यष्टिधर्म पालन का सर्वोत्तम फल भगवत्प्राप्ति जैसी हुई वैसी तो किसी को हुई ही नहीं। वृन्दा के शाप में पत्थर (शालिग्राम) बने हुए भगवान् के पूजन में यदि तुलसी (वृन्दा) का संयोग न कराया जाये तो पूजा ही पूरी नहीं होती। तुलसी के बिना भगवान् नैवेद्य तो स्वीकार करते ही नहीं—

'छप्पन भोग छतीसों व्यंजन बिन तुलसी प्रभु एक न मानी।'

बलि राजा के शयनगृह में जितने दरवाजे हैं, उन सभी दरवाजो पर अनेक रूप धारण करके प्रभु को खड़ा रहना सड़ता है, क्योंकि 'पता नहीं निद्रा से उठने पर बलि राजा किस दरवाजे की ओर देख दें, ऐसी चिन्ता चिन्ता-हरण कल्याणकरण भगवान् को बनी रहती है।

इसी व्यष्टि और समष्टि धर्म पर दृष्टि रख कर भीष्म पितामह तथा कर्ण आदि का वध धर्मयुद्ध की मर्यादा का अतिक्रमण करा कर भी कराया गया था। इस प्रकार धर्म-कर्म के मर्म को समझ लेने पर शास्त्रों के वचनों में तथा महापुरुषों के आचरणों में कहीं भी असंगति नहीं दीखती।

सारांश—देश, काल, व्यक्ति, परिस्थिति आदि के भेद से धर्म की बाह्य रूपरेखा में आवश्यकतानुसार परिवर्तन करना अनिवार्य है, अन्यथा 'यतोऽभ्युदयनिश्श्रेयससिद्धिः स धर्मः' इत्यादि पूर्वोक्त धर्म के मुख्य स्वरूप का ही विनाश हो जाता है। अनिवार्य परिवर्तन का निर्धारण सर्वज्ञ ऋषियों ने जो प्रथम से ही कर दिया है, सर्वप्रकार से हितकर होने के कारण वही स्वीकार करने योग्य है, असर्वज्ञ आधुनिक लोगों द्वारा किया गया नहीं। इस रहस्य को समझ लेने पर शास्त्रों के वचनों तथा महापुरुषों के आचरणों में असङ्गति प्रतीत नहीं होती।

●

कलि का पुनीत प्रताप

'कलेर्दोषनिधेस्तात गुण एको महानपि ।
मानसं ही भवेत्पुण्यं सुकृतं नहि दुष्कृतम् ।।' (ब्रह्मवै० पु०)
'कलि कर एक पुनीत प्रतापा । मानस पुण्य होंहि नहि पापा ।।'

अर्थ--हे तात ! यद्यपि कलियुग दोषों का समुद्र है, तथापि उसमें एक महान् गुण भी है । कलियुग में मानस पुण्य होते हैं, किन्तु मानस पाप नहीं होते ।

शङ्का—उक्त श्लोक तथा अर्धाली में 'नहि' शब्द पुण्य और पाप दोनों के बीच में रखा होने के कारण कुछ विद्वान् ऐसा अर्थ करते हैं कि 'कलियुग में मानस पुण्य और पाप दोनों ही नहीं होते । 'कलियुग में मानस पुण्य होते हैं किन्तु मानस पाप नहीं होते' ऐसा अर्थ करने में यह दोष भी देते हैं कि तब तो मनुष्य एक ब्राह्मण को भोजन कराने में भी असमर्थ होने पर भी लाखों ब्राह्मणों को भोजन कराया, लाखों गायों का दान किया, सैकडों यज्ञों का अनुष्ठान किया इत्यादि इत्यादि रूप में मानस पुण्य करके उनके फल का भागी हो जायेगा तथा मानस पापों से बचने का प्रयास न करेगा, जिसका परिणाम पतन ही होगा—

'ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ।।
क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ।।'
(गीता० २।६२,६३)

अर्थ—विषयों का चिन्तन करनेवाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से कामना उत्पन्न होती है, कामना (में विघ्न पड़ने) से क्रोध

उत्पन्न होता है, क्रोध से मूढ़भाव उत्पन्न होता है, मूढ़भाव से स्मृति में भ्रम हो जाना है, स्मृति-भ्रम से बुद्धि का नाश और बुद्धिनाश से पतन हो जाता है ।

इस प्रकार जब सामान्यतः विषयचिन्तन ही पतन का हेतु बन जाता है, तब विशेषरूप से पापों का चिन्तनरूप मानस पाप परिणाम में पतन का हेतु बन जाये तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? भविष्यकाल में परिणाम में ही नहीं किन्तु पापचिन्तनरूप मानसपाप को रोकने का प्रयास न करने पर तो भगवत्-चिन्तन आदि साधन हो ही न सकेंगे । इस प्रकार वर्तमान काल में भी महान् हानिकर होने से उसका त्याग करना परमावश्यक है ।

समाधान---निम्नलिखित महाभारत के श्लोकों के अर्थ पर विचार करने से उक्त शङ्का का समाधान हो जाता है—

'धर्मकार्यं यतञ्छक्त्या नो चेत्प्राप्नोति मानवः ।
प्राप्तो भवति तत्पुण्यमत्र मे नास्ति संशयः ॥
मनसा चिन्तयन् पापं कर्मणा नातिरोचयन् ।
न प्राप्नोति फलं तस्येत्येवं धर्मविदो विदुः ॥'

(महाभा० उ० प० ३३।६,७)

अर्थ—अपनी सामर्थ्य के अनुसार धर्मकार्य के लिए यत्न करता हुआ मनुष्य यदि किसी कारण उसे पूर्ण नहीं कर पाता है तो उसे उस कार्य का पुण्य प्राप्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं है । इसी प्रकार मन से पाप का चिन्तन करता हुआ कर्म से उसे अच्छा नहीं समझता हो तो (ऐसी दशा में) उसे उसका पापरूप फल नहीं प्राप्त होता है, ऐसा धर्ममर्मज्ञ जानते हैं ।

तात्पर्य यह है कि जिस मनुष्य में चार ब्राह्मण खिलाने या एक गाय दान करने या एक यज्ञ करने की सामर्थ्य है उसके लिए उसने समग्र सामग्री का संग्रह कर लिया है, ऐसी दशा में किसी अनिवार्य कारण-विशेष से अथवा कर्ता की मृत्यु हो जाने से वह पुण्यकार्य पूरा न हो पाये तो उस पुण्यकार्य करने के मानस सङ्कल्प से ही उसे उस शुभकार्य का पुण्यफल मिल जायेगा । महाभारत के

इस स्पष्टीकरण से पूर्वोक्त इस शंका के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाता कि 'एक ब्राह्मण को भी भोजन कराने में असमर्थ होने पर भी लाखों ब्राह्मणों को भोजन कराया, इस मानसपुण्य का भी फल प्राप्त होने लगेगा इत्यादि।

इसी प्रकार कोई मनुष्य प्रबल द्वेष-वशात् शत्रु को मार डालने का संकल्प तो करता है, किन्तु शास्त्र या लोकभय से उसे कार्यरूप में परिणत करना नहीं चाहता। ऐसी दशा में शत्रु को मार डालने की क्रिया सम्पन्न न होने के कारण उसे मार डालने के संकल्परूप मानस पापमात्र से ही शत्रुवध का जरा भी फल उसे नहीं मिलेगा। यही कलियुग की विशेषता है, जब कि सतयुग आदि में शत्रुवध के संकल्परूप मानसपाप का भी कुछ फल अवश्य मिलता है।

'पापचिन्तनरूप मानसपाप को रोकने का प्रयास न करने पर तो भगवत्-चिन्तन आदि साधन हो ही न सकेंगे' इत्यादि शङ्का भी ठीक नहीं, क्योंकि पाप के अनुत्पादक व्यर्थ चिन्तन भी भगवत्-चिन्तन में ही नहीं किन्तु भौतिक-विज्ञान के अनुसन्धान में भी बाधक होने के कारण जब उसका त्याग करना परमावश्यक माना जाता है, तब पापचिन्तन का त्याग परमावश्यक माना जाये इसमें तो कहना ही क्या है।

'मानस पुण्य और पाप दोनों ही नहीं होते' इस अर्थ में कुछ लोग यह भी असंगति देखते हैं कि इस अर्थ को स्वीकार कर लेने पर तो भगवत्-चिन्तन-ध्यानरूप मानस पुण्य का फल भी कलियुग में न होगा।

इसका समाधान करते हुए किसी विद्वान् का कहना है कि जो शुभ या अशुभ कर्म शारीरिक स्थूल क्रिया से सम्पादित होते हैं उनके हेतु संकल्परूप मानस पाप पुण्य पर ही उक्त श्लोक तथा अर्धाली में विचार किया गया है, भगवत्-चिन्तन-ध्यान तो केवल मन से सम्पादित होनेवाला मानस कर्म ही है, उसकी चर्चा यहाँ करना व्यर्थ है।

अन्य विद्वान् का कहना है कि भगवत्-चिन्तन-ध्यान कर्म ही नहीं, किन्तु उपासना है, अतः उसकी चर्चा यहाँ करना निरर्थक है।

मेरी दृष्टि से तो 'मानस पुण्य होते हैं और मानस पाप नहीं होते' यही अर्थ श्रेष्ठ है। इसपर होनेवाली शङ्काओं का समाधान पूर्वलिखित महाभारत के श्लोकों पर किये गये विचार से हो ही जाता है, अतः 'मानस पुण्य और पाप दोनों नहीं होते' इस अर्थ पर दिखाई गई असंगति और उसके समाधान पर मैं विचार नहीं करता।

'मानस पुण्य होते हैं, मानस पाप नहीं होते' इस अर्थ को श्रेष्ठ मानने का कारण यह है कि यदि कलियुग में भी मानस पाप हों तो किसी का उद्धार होना ही प्रायः असंभव हो जाये, क्योंकि परम सन्त तुलसीदासजी ने कहा है—

'कलि केवल मलमूल मलीना। पापपयोनिधि जनमन मीना॥

रागद्वेष-निवारण

अनुकूल व्यक्ति, परिस्थिति, पदार्थ, व्यवस्था, अवस्था आदि में चिपकनेवाली ममता, आसक्ति, प्रीति, लोभ आदि नामों से कही जानेवाली समस्त वृत्तियाँ राग के ही विविध प्रकार हैं एवं प्रतिकूल व्यक्ति, परिस्थिति, पदार्थ, व्यवस्था, अवस्था आदि में उद्वेग पैदा करनेवाली कटुता, ईर्ष्या, शत्रुता, क्रोध आदि नाम से कही जानेवाली सम्पूर्ण वृत्तियाँ द्वेष के ही विविध आकार हैं। वे राग-द्वेष साधक के मार्ग में महान् विघ्न डालनेवाले हैं, अतः उनके वश में नहीं होना चाहिए' ऐसा भगवान् ने कहा है—

'तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।' (गी० ३।३४)

सभी साधक इसका अनुभव भी करते हैं। अतः ज्यों ही राग-द्वेषरूप विकार का संचार हुआ वे अति व्याकुल हो जाते हैं और शीघ्र इन राग-द्वेषरूप विकारों का संहार कर डालने के लिए सिरतोड़ प्रयत्न करने लग जाते हैं। परन्तु जितनी जल्दी जैसी सफलता चाहते हैं वैसी न मिलने पर हताश हो जाते हैं। एक तो रागद्वेषजन्य दुःख, दूसरा उनके न मिटने का दुःख, इस प्रकार दुगुने दुःख से पीड़ित होकर चलितचित्त हो जाते हैं। अतः इसपर भी कुछ विचार प्रगट करना परम आवश्यक प्रतीत होता है।

साधक की भ्रान्ति

जब रागद्वेषसम्बन्धी वृत्तियों का घंटों प्रवाह बहता रहता है, कभी कभी अनेकों दिनों या अनेकों महीनों प्रवाह चलता रहता है, पूरा प्रयास करने पर भी सफलता नहीं मिलती तब साधक रागद्वेषरूप शत्रु को अतिप्रबल और अपने को अतिनिर्बल मान कर सब प्रकार से हताश हो जाता है। इसका कारण यह है कि साधक यह सुदृढ़ निश्चय कर बैठता है कि अमुक व्यक्ति, परिस्थिति, पदार्थ आदि में यदि मेरा अति प्रबल राग या द्वेष न होता तो इस प्रकार निरन्तर दीर्घकाल तक तत्सम्बन्धी वृत्तियों का प्रवाह चल ही नहीं सकता।

भ्रान्ति-निवारण

साधक का यह निश्चय ठीक न होने के कारण अति विचारणीय है। देखिये—सभी साधकों को कभी न कभी ऐसा भी अनुभव होता है जिस विषय में मेरा राग या द्वेष नहीं है उस विषय से सम्बन्धित वृत्तियों का भी दीर्घकाल पर्यन्त प्रवाह चलने लगता है, रोकने पर भी नहीं रुकता। इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि दीर्घकाल तक किसी विषय पर वृत्तियों का प्रवाह चलना प्रबल रागद्वेष का निश्चित लक्षण नहीं माना जा सकता।

दूसरी बात यह है कि घंटों, दिनों, महीनों और निरन्तर उस विषय का चिन्तन चलता रहता है' यह बात भी सत्य नहीं, क्योंकि उस समय भी साधक अपने जीवननिर्वाहक कार्य तथा पाठ, पूजा आदि सभी व्यवहार करता रहता है। ये सब कार्य इनसे सम्बन्धित वृत्तियों के चले बिना हो ही नहीं सकते। इसके अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार की वृत्तियों का संचार बीच में होता रहता है। यदि इन सब वृत्तियों की गणना एक तरफ की जाये और रागद्वेषसम्बन्धी वृत्तियों की गणना एक तरफ की जाये तो शायद ही कभी रागद्वेष की वृत्तियों की संख्या अधिक निकले प्रायः तो कम ही निकलेगी। तो भी साधक को वे खटकती अधिक हैं, इसलिए उनपर ध्यान अधिक देने से ऐसा अनुभव सा होता है कि रागद्वेषसम्बन्धी वृत्तियाँ ही निरन्तर घंटों, दिनों और महीनों चलती रहती हैं, इससे साधक घबड़ा जाता है।

अन्य प्रकार से विचार किया जाये तो जब बीच में व्यवहार-कार्य की निर्वाहक या निरर्थक वृत्तियों का या निद्रा का संचार होता है। उस समय यदि बलपूर्वक भी रागद्वेषसम्बन्धी वृत्तियों को चलाने का प्रयास किया जाये तो भी नहीं चला पाता। उस समय भी रागद्वेष तो ज्यों के त्यों ही प्रबल रहते हैं तो भी तत्सम्बन्धी वृत्तियाँ चलाने पर भी न चलना यह सिद्ध कर देता है कि प्रबल रागद्वेष के कारण ही उस विषय का अधिक चिन्तन होता है यह निश्चय ठीक नहीं।

कभी-कभी तो ऐसा देखने में भी आता है कि मित्र और शत्रु के द्वारा

नई-नई अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियाँ पैदा करते रहने के कारण राग-द्वेष प्रथम की अपेक्षा और अधिक प्रबल हो जाते हैं तो भी २-४ महीने या दो चार वर्ष व्यतीत हो जाने के कारण या अन्य प्रकार के कार्य-व्यवहार में लगे रहने के कारण रागद्वेषसम्बन्धी विषय का चिन्तन प्रायः समाप्त सा ही हो जाता है। इससे भी साधक का उक्त निश्चय ठीक नहीं, यही सिद्ध होता है।

अनुभव के अनुसार अनेक प्रकार से साधक के निश्चय को गलत सिद्ध करने का प्रयास इसलिए किया गया है कि साधक का उक्त गलत निश्चय ही उसकी व्याकुलता को बढ़ाता है, साधन-शक्ति का नाश करता है तथा सफलता प्राप्ति में निराशा लाता है। अतः गलत निश्चय के दूर हो जाने पर राग-द्वेष को दूर करने की साधना सुगमता से समझाई जा सकेगी।

भयङ्कर रागद्वेष

यद्यपि सभी प्रकार के राग-द्वेष साधक को क्लेश पहुँचाते हैं तथापि शत्रुता-रूप द्वेष और स्त्री-पुरुष का परस्पर आकर्षक (काम) रूप राग महान् क्लेश प्रदान करते हैं, इसलिए इन दोनों का एक-एक दृष्टान्त से प्रतिपादन करके बाद में उनके निवारण के उपायों पर विचार किया जायेगा।

शत्रुतारूप द्वेष—साधना करनेवाले पति-पत्नी का एक जोड़ा है, पति अति दरिद्र है, मजदूरी करके दिन में जो कमाता है सायंकाल सूखी रोटी से २-३ बच्चों का तथा पत्नी का पेट भरता है। किसी शत्रु ने उसके पति को मार डाला। अब उस साध्वी स्त्री के सामने २-३ बच्चों के पालन-पोषण तथा उदर-भरण की समस्या आ खड़ी हुई। कैसे इन बच्चों को पालूंगी ? कैसे इनके तथा अपने उदर-भरण के लिए पैसे कमाऊँगी ? उन शत्रुओं से कैसे अपने सतीत्व की रक्षा करूँगी ? इत्यादि भावी समस्याओं की चिन्ता से अतिव्याकुल उस साधिका स्त्री के हृदय में बलात् शत्रु के प्रति द्वेषात्मक वृत्तियों का प्रवाह प्रवाहित हो जाता है। साधिका होने के नाते उसे मिटाने का प्रयास करती है, परन्तु सफलता न मिलने के कारण असफलता का एक नया क्लेश और उत्पन्न हो जाता है।

यद्यपि पड़ोसी लोग उसके दुःख से तात्कालिक दुःखी होकर उस समय उसके बच्चों को तथा उसको भी घी, दूध, फल, मेवा तथा उत्तम कोटि के पदार्थ खिला कर उदर-भरण कर रहे थे, महात्मा लोग उत्तम उत्तम उपदेश दे रहे थे, तथापि उसके मानसिक क्लेश में लेशमात्र भी कमी नहीं हो रही थी। शत्रुतारूप द्वेषात्मक वृत्तियों के प्रवाह में भी न्यूनता नहीं आ रही थी। यद्यपि जिन भावी दुःखों की कल्पना करके महान् व्याकुलता हो रही थी वे दुःख वर्तमान में नाममात्र को भी नहीं हैं, तथापि व्याकुता बढ़ती ही जा रही है।

पड़ोसियों की क्षणिक सहानुभूति धीरे धीरे समाप्त होने लगी, बच्चों की तथा अपनी उदरज्वाला की शान्ति के लिए मजदूरी करना, बच्चों का पालन-पोषण करना, सतीत्व की रक्षा करना आदि कार्य स्वयं ही करने लगी। इतना ही नहीं धीरे धीरे कन्या युवती हो गई उसके भी सतीत्व की रक्षा तथा विवाह की चिन्ता आदि की नई नई ऐसी समस्याएँ सामने आने लगीं, जिनकी पति मरणकाल में उसके मन में कल्पना भी नहीं हुई थी। इस प्रकार ५-१० वर्ष वीत गये, जिनकी कल्पनामात्र से चित्त महान् वेचैन हो जाता था वे कार्य अव स्वयं करने पर तथा और नई-नई समस्याएँ आने पर भी मन में प्रथम जैसी महान् चिन्ता द्वेपात्मक वृतियों का प्रवाह नहीं रहा।

इतना ही नहीं, यदि कोई कभी सहानुभूति दिखाते हुए कोई बात चलाता है तो कहती है छोड़ो इन बातों को, संसार में ऐसा होता ही रहता है कोई नई बात नहीं है। शत्रु-द्वारा बच्चों के भरण-पोषण तथा कन्या के सतीत्वरक्षण में बाधा पहुँचाने के कारण यद्यपि द्वेष तो पहले की अपेक्षा भी अतिप्रबल हो गया है, परन्तु द्वेषात्मक वृत्तियों का प्रवाह १ घंटे चलाने पर भी नहीं चल पाता। इसका कारण क्या है? इसपर गंभीरता से विचार करना चाहिए, क्योंकि इसपर किया गया गंभीर विचार ही द्वेप-प्रवाह-परिहार का मूलाधार हो जायेगा।

द्वेष-प्रवाहपरिहार का मूलाधार

जैसे उत्तर-दक्षिण तथा पूर्व-पश्चिम दिशा में गति करनेवाले किसी लटकन पर जब उत्तर-दक्षिण दिशा से क्रमशः तीव्र प्रहार होता है तब वह तीव्रता से

उत्तर-दक्षिण दिशा में गतिशील होकर खट खट करने लगता है, यदि उस पर और नये प्रहार न हों तो क्रमशः वह स्वयं स्थिर हो जाता है। अथवा उसपर पूर्व-पश्चिम से प्रहार किया जाये तो प्रथम तो उसकी उत्तर-दक्षिण दिशा में होनेवाली तीव्र गति में कुछ बाधा आवेगी, पुनः पुनः पूर्व-पश्चिम से प्रहार करते रहने पर उत्तर-दक्षिण की गति समाप्त होकर पूर्व-पश्चिम में ही गति होने लग जायेगी।

वैसे ही मनरूपी लटकन पर जब जिस समस्या का प्रहार पड़ जाता है तब उसी बिषय का चिन्तनरूप प्रवाह प्रवाहित हो जाता है, यदि उस समस्या से सम्बन्धित नये प्रहार मन पर न पड़ें तो मन उस विषय का चिन्तन छोड़ कर स्वयं शान्त हो जाता है। अथवा विपरीत या नई समस्याओं का प्रबल प्रहार पड़ जाये या डाला जाये तो पूर्व विषय के चिन्तन में प्रथम तो कुछ बाधा होगी, पुनः पुनः नई समस्याओं के डालने पर पूर्व विषय का चिन्तन समाप्त होकर नई समस्याविषयक चिन्तन का प्रवाह ही प्रवाहित होगा।

मनोविज्ञान के आधार पर विचार किये गये द्वेषप्रवाह-परिहार के इस मूलाधार को सम्यक् प्रकार से समझ लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जो साधक द्वेषात्मक चित्तवृत्तियों के प्रवाह को या अन्य किसी प्रकार के निरर्थक चिन्तन के प्रवाह को रोकना चाहते हैं उन्हें दो कार्य करने चाहिए, एक तो उस समस्या से सम्बन्धित नया प्रहार मन पर न होने पाये इसका ध्यान रखें। इसका एकमात्र उपाय यह है कि उस शत्रु से सदा के लिए उदासीन हो जायें। दूसरा कार्य यह करना चाहिए कि दूसरी वृत्तियों के चलाने के लिए सत्संग, स्वाध्याय, सेवा, व्यापार करना, समाचार पढ़ना आदि कार्यों में वलपूर्वक लग जाना चाहिए। इन दो साधनों से द्वेषात्मक चिन्तन का हानिकर प्रवाह अन्य सार्थक या निरर्थक चिन्तन-प्रवाह में बदल जायेगा।

द्वेषनिवारण का उपाय

इतना कार्य हो जाने के बाद पूर्वोक्त प्रकार से साधक जब इस विचार को स्वीकार कर लेगा कि द्वेषात्मक चिन्तन का प्रबल प्रवाह प्रबल द्वेष के कारण

ही नहीं होता तब अपने को महाद्वेषी मानकर जो महान् व्याकुलता होती थी, जिससे साधन करने की शक्ति का विनाश तथा सफलता से हताश हो गया था वह सब दूर होकर नूतन उत्साह जाग्रत् हो जायेगा। तब द्वेष-निवारण के निम्नलिखित उपाय कर सकेगा—

(१) शत्रु के प्रति मन में आन्तर द्वेष बने रहने का कारण यह निश्चय होता है कि इसने यदि ऐसा उत्पात न किया होता तो हमें आज महान् संकट का सामना न करना पड़ता, अतः शत्रु के प्रति द्वेष का तभी निवारण होगा जब साधक को यह निश्चय हो जाये कि पति-पत्नी तथा पुत्र-पौत्र के मरण, धनहरण आदि में मुख्य कारण मेरा पूर्व किया कर्म ही है, यह तो उसमें निमित्तमात्र ही है—

'कः कस्य हेतुर्दुःखस्य कश्च हेतुः सुखस्य च।
स्वपूर्वार्जितकर्मैव कारणं सुखदुःखयोः॥
सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता।
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा॥
अहं करोमीति वृथाऽभिमानः।
स्वकर्मसूत्रे ग्रथितो हि लोकः॥'

(अध्या० रा० अयो० ६।४–६)

'न काहु कर कोउ सुख दुख दाता। निजकृत कर्म भोग सब भ्राता॥'

अर्थ—कौन किसके सुख या दुःख का हेतु है? पूर्व में किया हुआ अपना कर्म ही सुख और दुःख में कारण है। सुख तथा दुःख का देनेवाला कोई नहीं। दूसरा कोई सुख या दुःख देता है, यह मानना मूर्खता है। 'मैं करता हूँ' ऐसा वृथा अभिमान है, मनुष्य अपने कर्मरूप सूत्र से गुंथा हुआ है।

सत्संग तथा सत्-शास्त्र का श्रवण और मनन करनेवाले प्रायः साधकों के मन में उक्त निश्चय रहता ही है, इसका प्रत्यक्ष फल भी देखने में आता है कि संसारी मनुष्यों की अपेक्षा साधकों के हृदय में द्वेष की मात्रा कम ही होती है तथा सत्संग करने एवं सत्शास्त्र का पुनः पुनः श्रवण और मनन करने से उस निश्चय को सुदृढ़ बनाने पर द्वेष का प्रायः निवारण हो जाता है।

अध्यात्मरामायण तथा तुलसीकृत रामायण का प्रमाण देकर जो कहा गया है वह सब शास्त्र पर अन्धविश्वासमात्र नहीं, किन्तु परम सत्य है। इसकी परम सत्यता उस समय पूर्णरूपेण प्रमाणित हो जाती है जब भूकम्प, तूफान, ओला, वर्षा, लू, शीतलहर, वाहनों की परस्पर टक्कर और पैर फिसलन आदि कारणों से पति-पत्नी या पुत्र-पौत्र का मरण आदि महान् उत्पात हो जाते हैं। तब शास्त्र को प्रमाण न माननेवाले भी ऊपर ऊपर मुख से ही नहीं भीतर से स्वीकार करने लग जाते हैं कि हमारे किसी पूर्वकृत कर्म का फल ही हमारे सामने आया है।

शास्त्र को प्रमाण माननेवालों के हृदय में जो द्वेष का संचार हो जाता है तथा प्रयास करने पर भी तुरन्त दूर नहीं होता उसका कारण यह है कि व्यवहार में प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रबलता होती है, अतः परोक्ष शास्त्रप्रमाण से वह जल्दी कटता नहीं। परन्तु सत्संग से तथा जहाँ व्यक्ति निमित्त नहीं होता ऐसी पूर्वलिखित घटनाओं पर बारम्बार विचार करने से परोक्षशास्त्रप्रमाणजन्य उक्त निश्चय अतिप्रबल होकर प्रत्यक्षप्रमाण की प्रबलता को जब दबा देता है तब द्वेष नष्टप्राय हो जाता है।

(२) अपने हृदय में द्वेष के नष्टप्राय हो जाने पर यदि शत्रु के संकट-निवारण में कभी सहयोग का शुभ अवसर प्राप्त हो जाये और उसे परोपकार-भाव से मित्र की तरह पूरा किया जाये तो द्वेष सर्वथा नष्ट हो जायेगा, इतना ही नहीं प्रेम का संचार भी हो जायेगा। यह कार्य तब तो अति शीघ्रता से हो जाता है जब सामनेवाला भी साधकस्वभाव का हो। यह कदम तभी उठाना चाहिए जब यह पूरा विश्वास हो जाये कि सामनेवाला मेरी इस पवित्र-भावना से किये गये कार्य का दुरुपयोग नहीं करेगा, नहीं तो नया विक्षेप पैदा हो जायेगा।

कामरूप राग—सच्चे साधक तथा साधिका को तो अपने पति और पत्नी में भी होनेवाला आकर्षक (काम) रूप राग बहुत खटकता है। यदि कहीं पर-पति या पर-पत्नी के प्रति आकर्षण हो जाये तब तो महान् विक्षेप पैदा हो

जाता है। संस्कारवशात् उनके हँसने, बोलने, मुसकुराने, हाव-भाव और अनङ्गसम्बन्धी गुप्तांगों का भजन-ध्यान करते समय भी स्मरण होने लग जाये तब साधक तथा साधिका अपने को महाकामी (रागी), महापापी मानकर इतने दीन-हीन हो जाते हैं कि उनके मन में बारम्बार यह विचार आने यगता है कि ऐसे जीवन को धारण करने की अपेक्षा मरण का वरण कर लेना ही कल्याणकारक है। इस दूषित विचार के कारण निर्बल मनवाले कुछ साधक आत्महत्या कर भी लेते हैं, कुछ साधकों का मन इतना विक्षिप्त हो जाता है कि आधे पागल से हो जाते हैं और कुछ साधकों के शरीर के ऊपर इसका ऐसा गहरा प्रभाव पड़ जाता है कि सम्पूर्ण जीवन में अपच आदि महान् रोगों से पीड़ित हो जाते हैं।

रागप्रवाहपरिहार का मूलाधार

प्रथम तो साधक को अपनी यह भ्रान्ति दूर कर लेनी चाहिए कि प्रबल राग के कारण ही चिन्तन-प्रवाह चलता है। एक बार भय छोड़ कर मन से २-४ घंटा लगातार स्त्री पुरुष परस्पर चिन्तन करने का प्रयास करें तो उन्हें पता चलेगा कि आधा घंटे भी लगातार चिन्तन नहीं हो पाता। दूसरा उपाय यह करें कि उनके जो मित्र संसारी गृहस्थ हैं उनसे पूछें तो उन्हें पता चलेगा कि जब विवाह हुआ था तब परस्पर एक दूसरे का चिन्तन अधिक होता था, विवाह के बाद १० वर्ष का समय बीत गया, स्त्री पुरुष में परस्पर राग तो प्रथम की अपेक्षा और अधिक सुदृढ़ हो गया है, परन्तु परस्पर चिन्तन का प्रवाह बहुत कम हो गया है। इन दो उपायों से साधक को सब प्रकार से दीन-हीन तथा बल-क्षीण कर देनेवाली यह भ्रान्ति दूर हो जायेगी कि मेरे हृदय में प्रबल राग (काम) होने के कारण चिन्तन-प्रवाह चलता है। वास्तविक बात यह है कि अत्यन्त खटकने के कारण थोड़ा-सा भी काम-चिन्तन महान् चिन्तन-प्रवाह-सा प्रतीत होता है।

पूर्व में 'द्वेष-प्रवाहपरिहार का मूलाधार' बताते हुए लटकन के दृष्टान्त से जो बात कही गई थी उसकी आवृत्ति एक बार यहाँ राग-परिहार के प्रकरण में कर लेनी चाहिए और वहाँ बताये गये विचार के अनुसार द्वेष-प्रवाहपरि-

हार के मूलाधाररूप दो उपायों का प्रयोग राग-प्रवाहपरिहार में भी करना चाहिए। अर्थात् राग (काम) चिन्तन-प्रवाह को बल मिले ऐसा नया कार्य न करे और सत्संग, सत्कथा-श्रवण, शास्त्राध्ययन, समाचार-पत्र पठन आदि द्वारा अन्य चिन्तन-प्रवाह चलाये।

प्राकृत (काम) राग के निवारण का उपाय

प्रकृत राग (काम) का एक प्राकृत रूप है जो रज-वीर्य की अधिकता के कारण ही होता है। देखिये, बाल्यावस्था में कामोत्तेजना नहीं होती, युवावस्था के प्रारम्भ में ही सत्संग प्राप्त हो जाने के कारण नित्यप्रति विवेकवृद्धि के होने पर भी साथ साथ युवावस्था की वृद्धि के कारण कामोत्तेजना की भी वृद्धि होती जाती है। वृद्धावस्था में ही नहीं युवावस्था में भी एक बार दो बार संभोग कर लेने के पश्चात् कामवर्धक सकल सामग्री का सम्पर्क रहने तथा भोग-सुख की लालसा रहने पर भी तत्काल अविवेकी पुरुष को भी कामोत्तेजना नहीं होती।

इससे यह सिद्ध हो जाता है कि काम (राग) का यह रूप प्राकृत है, अविवेकजन्य नहीं, अतः विवेक से इसकी निवृत्ति की आशा करना और निवृत्त न होने पर विवेक या विवेकप्रदायक सन्त या सद्ग्रन्थ की निन्दा करना ही अविवेकमूलक है। इसकी न्यूनता का एकमात्र उपाय रजवीर्यवर्धक पदार्थों का न्यून मात्रा में सेवन करना ही है।

यद्यपि कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं सर्वसमर्थ भगवान् प्राकृत विकारों को भी मिटाने में समर्थ हैं। कभी कभी अपनी इस सर्व-समर्थरूपता को प्रगट करके विश्वमान्य वैज्ञानिकों के विज्ञान अभिमान को धूलिसमान कर भी देते हैं, जैसे वर्तमान में विद्यमान राजस्थान की प्रसिद्ध सती मां को ३५—४० वर्ष से बिना जलपान के भी स्वस्थ मनुष्य की तरह उठने-बैठने, चलने, फिरने आदि से युक्त जीवन प्रदान करके विश्वमान्य शरीरविज्ञान के विशेषज्ञों के अभिमान को धूलिसमान कर दिया है। तथापि किसी कारण विशेष के बिना सर्व-समर्थ भगवान् भी प्रायः स्वनिर्मित प्राकृत विधान का विनाश नहीं करते। यही

कारण है कि सच्चे हृदय से की गई प्रार्थना सुनकर भी भगवान् इस प्राकृत काम का प्रायः विनाश नहीं करते ।

विकृत काम (राग) के निवारण का उपाय

प्रकृत राग (काम) का एक विकृत रूप है जो कि कुछ अविवेकमूलक और अधिक सम्भोग-सुखमूलक होता है। जिसका स्वरूप यह है कि सुन्दर युवावस्थापन्न स्त्री-पुरुषों के परस्पर अवलोकन, मुसकान, हँसने, मिलने, उठने, वैठने तथा अङ्गकम्पन से मैथुन की इच्छा उत्पन्न हो जाना ।

इस विकृत कामरूप राग के उत्पन्न होने पर साधक इतना अधिक घबड़ा जाता है कि जिसका वर्णन करना कठिन है। तुरन्त इसे दूर करने के लिए सन्तों तथा सद्ग्रन्थों में सुने ओर पढ़े साधनों को काम में लाने का प्रयास करता है। किन्तु किस साधन का किस अवस्था में किस प्रकार प्रयोग करना चाहिए, इसका समुचित ज्ञान न होने के कारण प्रायः असफलता ही मिलती है। इतना ही नहीं, कभी-कभी विपरीत फल मिलता है अर्थात् काम की प्रबलता और अधिक बढ़ जाती है। देखिये--

(१) 'मैं शरीर, इंद्रिय और मन नहीं, काम के अधिष्ठान---आधार ये ही हैं, मैं तो इनमें काम का सञ्चार जब होता है तब भी कामविकाररहित काम-विकार का साक्षी हूँ ।'

विचारमूलक साक्षीभाव की यह साधना ज्ञानप्रधान साधना करनेवाले साधक के लिए भी उस समय के लिए है जब एकान्त में बैठे-बैठे कामचिन्तन हो रहा हो। अतः यह साधना भावप्रधान या क्रियाप्रधान साधना करनेवाले को सफलता प्रदान नहीं कर सकती। इतना ही नहीं, किन्तु ज्ञानप्रधान साधना करनेवाला भी उस अवस्था में इस साधन का अनुष्ठान करेगा जिस अवस्था में अति कामावेग के कारण एक दूसरे का आलिङ्गन; चुम्बन तथा मैथुन करने के लिए पैरों से गमन प्रारम्भ हो चुका है तो क्रमशः उत्तरोत्तर कामावेगवर्धन और अन्त में महान् पतन का भी साक्षी बन कर रह जायेगा ।

(२) ऐसी तीव्र अवस्था में तो 'अरे भाई ! यह तो ५–१० मिनट का सुख है, अन्त में तो श्रमशैथिल्यजन्य खिन्नता ही हाथ आती है।'

'स्त्री-पुरुषों में नहीं अपने ही अङ्गघर्षण, रजवीर्यपतन में सुख का क्षणिक आभास होता है' इत्यादि विचाररूप साधन सफलता प्रदान नहीं करते। इसका कारण यह है कि उक्त विचार न होने के कारण यदि प्रवृत्ति हो रही हो तो अवश्य उक्त विचार से निवृत्ति हो जाती है। वस्तुस्थिति तो यह है कि उक्त बौद्धिक परोक्ष विचार से ही नहीं, किन्तु अनेक बार वैसी प्रत्यक्ष अनुभूति हो जाने के बाद भी जो प्रवृत्ति होती है उसका कारण सम्भोगसुखमूलक प्रबल आसक्ति है। इसकी निवृत्ति प्रबल मोक्षसुखासक्ति से या प्रबल नरक-दुःख-प्राप्ति के भय से ही हो सकती है। यह द्वितीय साधना तो जब प्रबल कामावेग नहीं है उसी समय काम करती है।

(३) 'स्त्री-पुरुषों के अङ्गों को फाड़ कर देखो इनमें रक्त, मांस, चर्बी के अतिरिक्त क्या है। विशेष करके अनङ्ग-रङ्ग-रञ्जक अङ्ग तो दुर्गन्ध के खन्धक हैं' इत्यादि विचाररूप साधना तो विरक्तिप्रधान स्वभाववाले के लिए है। अनुरक्तिप्रधान साधक इस साधन का अनुष्ठान करेगा तो उसका कामरूप राग बढ़ जायेगा। इसका कारण यह है कि इस साधना को करते समय साथ साथ जो स्त्री-पुरुषों तथा उनके अङ्गों का चिन्तन होगा, अनुरागप्रधान मन को उसमें विशेष रसास्वादन होगा, जिससे उसी का प्रभाव अधिक होगा, रक्त, मांस तथा चर्बी के विचार से वैराग्य नहीं होगा, क्योंकि इन अङ्गों में मांस और चर्बी के सिवाय और कुछ नहीं ऐसा परोक्ष विचार ही नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष अनुभव उसे पहले से ही है।

(४) 'स्त्री-पुरुष का परस्पर दूषित आकर्षणरूप काम (राग) होने पर सच्चे हृदय से पश्चात्ताप करना और आगे उससे बचने की प्रतिज्ञा करना'। यह साधन राग (काम) रूप विकार के परिहार के लिए ही नहीं किन्तु समस्त विकारों के परिहार के लिए अनिवार्य है। तो भी पश्चात्ताप की मात्रा इतनी अधिक न हो जाये कि साधन करने की शक्ति का ही विनाश हो जाये।

श्रीवृन्दावन-धाम के प्रसिद्ध सन्त के उपदेश में इस विषय में जो कुछ मैंने पढ़ा उससे मुझे बहुत लाभ हुआ, इसलिए उसे यहाँ लिख रहा हूँ। सन्त का कहना था कि जैसे स्वप्नावस्था में न चाहते हुए भी स्त्री-पुरुषों का परस्पर आकर्षण हो जाता है, उससे साधक अपने को महान् कामी (रागी) न मानकर उसकी उपेक्षा करके अपने साधन में जुट जाता है, वैसे ही जाग्रत् अवस्था में भी न चाहते हुए भी आकर्षण हो जाने पर उसकी उपेक्षा करके अपने साधन में जुट जाना चाहिए। अल्पकाल के आकर्षण (राग) का विकर्षण करने के लिए २–४ घण्टे या २–४ दिन या २--४ महीने अत्यन्त पश्चात्ताप करके मानसिक संघर्षण उत्पन्न नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे साधनशक्ति का विनाश होता है, तथा प्रकारान्तर से स्त्री-पुरुष का चिन्तन ही होता है।

यदि उसकी उपेक्षा करके हम भगवान् के रूप का चिन्तन, लीलाओं का अनुसन्धान तथा गुणगान करने लग जाते हैं तो शनैः शनैः भगवान् के प्रति अनुराग बढ़ता है। इस अलौकिक विशुद्ध अनुराग से ही लौकिक अशुद्ध राग कटता है, विवेकमात्र से राग नहीं कटता। विवेक तो राग के काटने में केवल सहायता ही पहुँचता है।

सारांश—प्रायः रागद्वेषजन्य चिन्तन का प्रवाह बहुत प्रबल होता नहीं, खटकने के कारण साधक उसे बहुत प्रबल मान लेता है, जिससे भयभीत हो जाने के कारण साधनशक्ति का विनाश हो जाता है, अतः पूर्वप्रदर्शित रीति से रहस्य को समझकर भयभीत नहीं होना चाहिए। रागद्वेषजन्य चिन्तन-प्रवाह का परिवर्तन अन्य सार्थक या निरर्थक चिन्तन-प्रवाह चलाकर ही प्रथम करना चाहिए। इस प्रकार भय का निवर्तन एवं चिन्तन का परिवर्तन हो जाने के बाद लौकिक रागरूप विकार का परिहार अलौकिक (स्वर्ग, मोक्ष तथा भगवान् की प्राप्ति) अनुराग के द्वारा करना चाहिए तथा लौकिक द्वेष का विनाश नरक-यमयातना, भगवान् का रोष आदि अलौकिक दुःख से विद्वेष द्वारा करना चाहिए। शारीरिक ऐन्द्रियक कामोत्तेजनारूप कामविकार का सर्वथा परिहार प्रायः नहीं होता, रजवीर्यवर्धक पदार्थों का कम सेवन करने से न्यून अवश्य हो जाता है।

विकृत काम-विकार के परिहार के उपायों का देश, काल, व्यक्ति, विकार की न्यूनता, अधिकता आदि पर विचारकर पूर्वप्रदर्शित यथायोग्य रीति से उपयोग करना चाहिए। अन्यथा सफलता नहीं मिलेगी। इतना ही नहीं, किन्तु विकार में वृद्धि भी हो सकती है। कामविकारपरिहार के लिए 'सिद्धों के लक्षण' नाम के लेख में से 'सर्वविकार-परिहार का मूलाधार' नाम का शीर्षक भी पढ़ना चाहिए, तथा 'मन और इन्द्रियों पर विजय' नाम के लेख में 'शिश्न पर विजय' नाम का शीर्षक भी पढ़ना चाहिए। इस प्रकार विचारपूर्वक किये गये साधन द्वारा ही रागद्वेषरूप विकार का यथासंभव परिहार करके तज्जन्य दुःखों से यथासंभव मुक्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं।

पूर्ण दुःखनिवृत्ति क्या संभव है ?

शङ्का—वेद, शास्त्र आदि सद्ग्रन्थों के आधार पर सभी महान् सन्तों के मुखारविन्द से सत्संग में यही श्रवण करने को मिलता है कि दुःखों के अत्यन्त विनाश (मोक्ष) के लिए ही साधन-धाम मानव-जीवन मिला है। दुःखों के अत्यन्त विनाश की इच्छा सभी में स्वाभाविकरूप से रहने के कारण मोक्ष की वार्ता सुन कर अभिलाषा का उदय होना स्वाभाविक है। इतना होने पर भी मुझे यह शङ्का होती है कि दुःखों का अत्यन्त विनाश जीवन में कभी हो सकता है क्या ?

ऐसी शङ्का होने का कारण यह है कि वेदादि सद्ग्रन्थों के आधार पर महान् सन्तों के मुखारविन्द से यही सुनता आया हूँ कि दुःखों के दो कारण हैं—एक अदृष्ट अर्थात् प्रारब्ध, दूसरा दृष्ट अर्थात् अविवेक। इनमें से प्रारब्धभोग अनिवार्य है, ऐसा तो वेदादि सद्ग्रन्थों के आधार पर सन्त स्वयं ही कहते हैं। तथा प्रत्यक्ष अनुभव में आने के कारण सभी स्वीकार भी करते हैं। रही बात अविवेक की, सो भी ठीक है, क्योंकि हम नित्यप्रति देखते हैं कि क्या खाना क्या न खाना, क्या छूना क्या न छूना, किस स्थान पर बैठना, किस स्थान पर न बैठना, किसकी सङ्गति करना किसकी न करना इत्यादि बातों का ठीक ठीक विवेक (ज्ञान) न होने के कारण हमें नानाप्रकार के दुःखों का सामना करना पड़ता है। तो भी यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या अल्पज्ञ मानव इन सब का ज्ञान प्राप्त कर सकता है ? इसका उत्तर 'नहीं' यही देना होगा। इसका कारण यही है कि 'संसार की पाठशाला अनन्त है।'

इसपर और विस्तार के साथ अपने विचार प्रगट करने का प्रयास करता हूँ। जन्म से लेकर १५-१६ वर्ष तक की आयु में जबतक बुद्धि का विकास नहीं हो जाता तब तक बाल्यावस्था में चाकू, बिच्छू पकड़ना, मिट्टी आदि अखाद्य पदार्थ खाना आदि ऐसे अनेक कार्य कर लेते हैं जिससे महान् दुःखों का

सामना करना पड़ता है। यदि मां-बाप उन्हें देख लें और उन पदार्थों का स्पर्श न करने दें तो भी इच्छापूर्ति न होने के कारण महान् दुःखी होते हैं, विलख विलख कर, फफक फफक कर रोते हैं, उनके इन दुःखों को किसी प्रकार भी मिटाया नहीं जा सकता। इस प्रकार मानव-जीवन की बाल्यावस्था में तो दु.खों का अत्यन्त विनाश संभव ही नहीं।

थोड़ा और गंभीरता से विचार कर देखा जाये तो अविकसित बुद्धिवाले मानवों की युवावस्था, प्रौढ़ावस्था तथा वृद्धावस्था तक बालकों जैसी ही बुद्धि रहने के कारण उनके तो सारे जीवन में भी दुःखों को किसी प्रकार मिटाया नहीं जा सकता। विकसित बुद्धिवाले मानवों के जीवन में भी अत्यन्त वृद्धावस्था में बुद्धि का ह्रास हो जाने के कारण बालकों जैसी बुद्धि हो जाने से उनकी भी वृद्धावस्था में दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति नहीं हो सकती। इतना ही नहीं, विकसित बुद्धिवाले मानवों की युवावस्था में अनेकानेक ऐसे पदार्थ रहते हैं जिनके बारे में वे बालकों की तरह ही ज्ञानहीन होते हैं, अतः उन पदार्थों के खाने, पीने, छूने आदि से महान् दुःख उन्हें युवावस्था में भी भोगने पड़ते हैं।

थोड़ा और अधिक गंभीर विचार करें तो विकसित बुद्धिवाले युवक मानवों को जितना ज्ञान है उसका भी वे पूर्ण उपयोग नहीं कर सकते, क्योंकि प्राप्त ज्ञान का समय पर उपयोग तभी हो सकता हैं, जब समय पर ज्ञान का उदय हो जाये। 'सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम्' (गीता १४।१७) अर्थात् सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है। सत्त्वगुण सदा एकरस रहता नहीं, इसलिए प्राप्त ज्ञान का भी समय पर उदित होना निश्चित न होने के कारण उसका भी पूर्ण उपयोग नहीं कर सकते।

यदि कहा जाये कि ज्ञान बनाये रखने या समय पर उदित हो जाने के लिए सत्त्वगुणवर्धक शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस का ही सेवन करना चाहिए। यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि इसमें भी मनुष्य पूरा स्वतन्त्र है नहीं। देखिये—यह रसात्मक दुग्धादि सात्त्विक पदार्थ, राजस तथा तामस वस्तु, व्यक्ति,

देश, काल, भाव आदि से दूषित हुआ है या नहीं इसे पूरा जानना साधक के हाथ में नहीं। व्यवहार करते हुए आँख और कान बन्द करके कार्य नहीं किया जा सकता ! ऐसी दशा में न चाहते हुए भी राजस तथा तामस शब्द, रूप आदि का प्रवेश बलात् हो जाता है, जिससे रजोगुण तथा तमोगुण का विकास तथा सत्त्वगुण का विनाश हो जाता है।

इसके अतिरिक्त १४-१५ वर्ष तक बाल्यावस्था में, इतनी ही क्यों जबतक सत्संग प्राप्त न हो तबतक युवावस्था, प्रौढ़ावस्था तथा वृद्धावस्था तक भी क्या सात्त्विक है, क्या राजस और तामस है ऐसा ज्ञान नहीं होता। हम जिस देश, काल, समाज तथा परिवार में पैदा होते हैं वहाँ जैसा खान-पान, रहन-सहन, श्रवण तथा पठन होता है बाल्यावस्था से उसी का सेवन होने के कारण उनके संस्कार इतने सुदृढ़ हो जाते हैं कि सत्संग प्राप्त होने पर सात्त्विक, राजस और तामस का विवेक (ज्ञान) होने पर भी उनका परित्याग नहीं कर पाते। इस प्रकार गंभीर विचार करने से यह सिद्ध हो जाता है कि कोई भी सारे मानव-जीवन को अविवेकजन्य दुःखों से भी अत्यन्त विनिर्मुक्त नहीं कर सकता। प्रारब्धजन्य दुःखों की निवृत्ति तो सिद्धान्त में ही स्वीकार नहीं। ऐसी दशा में 'दुःखों की अत्यन्त निवृत्तिरूप मुक्ति की प्राप्ति के लिए साधन-धाम मानव-जीवन मिला है' वेदादि सद्ग्रन्थों के इस कथन का क्या तात्पर्य है ? सो बताने की कृपा कीजिए।

समाधान—ऐसा लगता है कि आपने जीवनदर्शन का गंभीर अध्ययन, मनन एवं चिन्तन किया है। सद्ग्रन्थों तथा सन्तों के वचनों को जीवन में उतारने का प्रयत्न किया है। वास्तविक बात यही है कि जीवन रहते पूर्ण दुःख-निवृत्ति हो ही नहीं सकती. यही कारण है श्रीरामानुजाचार्य, गौतम, कणादादि आचार्य जीवन्मुक्ति स्वीकार नहीं करते। श्रीशङ्कराचार्य आदि आचार्य जो जीवन्मुक्ति मानते हैं उनका भी तात्पर्य यह नहीं है कि जीवन में प्रारब्धजन्य दु.खों की भी निवृत्ति हो जायेगी। प्रारब्धभोग को अनिवार्य तो सभी ने स्वीकार किया है। श्रीशङ्कराचार्यजी द्वारा जीवन्मुक्ति स्वीकार का

तात्पर्य केवल इतना ही है कि जीवन रहते ही यह ज्ञान हो सकता है कि आत्मा स्वरूपतः पूर्ण दुःखनिवृत्तिरूप ही है उसमें वास्तविक दुःखों का सर्वथा अभाव है।

वेदादि सद्ग्रन्थों तथा सन्तों ने जो यह कहा है कि 'पूर्ण दुःख-निवृत्तिरूप मुक्ति के लिए ही साधन-धाम मानव-जीवन मिला है' उसका भी तात्पर्य यह नहीं है कि इसी जीवन में पूर्ण दुःखों की निवृत्ति हो जायेगी। उसका भी तात्पर्य यह है कि इस मानव-जीवन में अपनी योग्यता के अनुसार हम ऐसे साधन का अनुष्ठान कर सकते हैं जिससे दुःखों का आधार अन्य जीवन ही धारण न करना पड़े। अतः आपके विचार के साथ वेदादि सद्ग्रन्थों के तात्पर्य का कोई विरोध ही नहीं।

●

कर्तव्य-निर्णय

चाहे भारतीय हो या अभारतीय, चाहे वैदिकमतावलम्वी हो या अन्य-मतावलम्वी हो मनुष्यमात्र क्षण भर भी कुछ किये बिना रह नहीं सकता, क्योंकि कर्म किये विना तो जीवन-यात्रा का निर्वाह भी नहीं हो सकता, इसी लिए भगवान् ने नियत अर्थात् करने योग्य कर्म को करने का आदेश दिया है—

'नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ (गी० ३।५-८)

ऐसा होने पर भी कभी कभी ऐसे अवसर आ जाते हैं कि सम्मुख उपस्थित अनेक कर्मों में से कौन-सा कर्म करने योग्य है इसका निर्णय करना कठिन हो जाता है। इसी का निर्णय करने के लिए भारत में श्रीमद्भगवद्गीता का प्रादुर्भाव हुआ था। भारत-भिन्न देशों के विद्वानों ने भी 'कर्तव्य-निर्णय' पर अपने विचार प्रकट किये हैं। उनका संक्षेप में यहाँ प्रथम प्रदर्शन करके बाद में भारतीय ऋषियों के 'कर्तव्य-निर्णय' पर विचार उपस्थित किये जायेंगे। जिससे पाठक दोनों की विचारशैली का स्वयं तुलनात्मक विवेचन कर सकेंगे।

अभारतीय विद्वानों की विचारधारा

(१) एक विद्वान् में अपने सम्पूर्ण जीवन की तथा यथासंभव अन्य मानवों के जीवन की प्रवृत्तियों का सूक्ष्मदृष्टि से निरीक्षण तथा परीक्षण करके यह निश्चय किया कि जिस कार्य के करने से मनुष्य के अपने स्वार्थ की पूर्ति होती है एवं स्व को सुख होता है उस कार्य में उसकी प्रवृत्ति होती है। इसके विपरीत में प्रवृत्ति नहीं होती।' अतः उसने यह निर्णय दिया कि 'जिस कार्य के करने से स्वार्थ की पूर्ति होती हो, स्व को सुख होता हो, वह कर्म करना ही मनुष्य का कर्तव्य है'।

अपने इस कर्तव्य-निर्णय का समर्थन भारतीय विद्वानों के वचनों से इस प्रकार किया--

'सुर नर मुनि सब की यह रीती। स्वारथ लाग करहिं सब प्रीती॥'

'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायाः कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।'

(बृह० उप० २।४।५)

अर्थ—अरे भाई ! पति के लिए पति प्रिय नहीं होता अपनी कामना के लिए पति प्रिय होता है। अरे भाई ! पत्नी के लिए पत्नी प्रिय नहीं होती अपनी कामना के लिए पत्नी प्रिय होती है। अरे भाई ! सब के लिए सब प्रिय नहीं होते अपनी कामना के लिए सब प्रिय होते हैं।

यद्यपि उक्त वचनों का तात्पर्य दूसरा ही है तो भी उस तात्पर्य को न जानने के कारण उन्होंने इन वचनों को स्वसिद्धान्त के समर्थक भ्रान्ति से मान लिया है।

(२) दूसरे विद्वान् ने प्रथम विद्वान् के निर्णय को अनुभवसम्मत बताते हुए भी कुछ संशोधन करते हुए कहा कि स्वार्थ और स्वसुख की सिद्धि के लिए किया गया कर्म पर-अर्थ और पर-सुख का नाशक न हो, इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए, अन्यथा स्वार्थ और स्वसुख का सम्पादन न हो सकेगा। देखिये—

एक छोटे से नये नगर में पानी की एक टंकी है, मशीन इतनी अधिक खराब हो गई कि एक सप्ताह से पहले ठीक नहीं हो सकती। जलविभाग के अधिकारी ने विचार किया कि यदि मैं टंकी में भरा पानी न निकालूँ तो एक सप्ताह आनन्द से मेरा कार्य चल जायेगा, ऐसा विचार कर उसने पानी नहीं निकाला। यद्यपि यह कार्य उसने स्वार्थ और स्वसुख की सिद्धि की ही दृष्टि से किया था, परन्तु परसुख और परअर्थ का भी नाशक होने कारण स्वसुख और स्वार्थ

का साधक न हो सका, नगर के लोगों ने आकर अधिकारी को मार कर पानी निकाल लिया।

अतः दूसरे विद्वान् ने यह निर्णय दिया कि पर 'सुख तथा पर-अर्थ का नाशक न हो और स्वसुख तथा स्वस्वार्थ का साधक हो ऐसा कर्म करना ही मनुष्य का कर्तव्य है'। यह निर्णय देते हुए दूसरे विद्वान् ने यह भी कहा कि मैं प्रथम विद्वान् के निर्णय को काट नहीं रहा हूँ, केवल संशोधन कर रहा हूँ, क्योंकि मेरे निर्णय में भी स्वसुख और स्वार्थ-पूर्ति की ही प्रधानता है, परसुख पर-अर्थ की नहीं। अतः शब्दान्तर में कहा जाये तो इस प्रकार कह सकते हैं कि 'जिस कार्य के करने से स्वसुख और स्वार्थ की सिद्धि में बाधा न हो, दूरदर्शितापूर्वक वह कार्य करना ही मनुष्य का कर्तव्य है'।

(३) तीसरे विद्वान् ने यह विचार उठाकर कि यदि चार कार्य इस प्रकार के एक साथ उपस्थित हो जायें कि चारों ही स्वार्थ और स्वसुख के साधक हों तब चारों में से कौन सा कार्य करना कर्तव्य होगा? इसपर यह निर्णय दिया कि 'अधिक से अधिक स्वार्थ की तथा स्वसुख की सिद्धि जिससे हो वह कार्य करना मनुष्य का कर्तव्य है'।

(४) चौथे विद्वान् ने कहा कि यद्यपि यह परम सत्य है कि मनुष्य की प्रवृत्तियाँ स्वार्थ-स्वसुख-मूलक ही होती हैं, तथापि परोपकारपरसुखमूलक एक भी प्रवृत्ति नहीं होती यह कहना सर्वथा असत्य एवं अनुभवविरुद्ध है। हम अपने तथा दूसरे के जीवन में देखते हैं कि कभी कभी दुःख सह कर स्व-अर्थ की हानि उठाकर भी पर-सुख तथा पर-अर्थ का सम्पादन करते हैं।

अब केवल यह विचार करना चाहिए कि दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों में से किसको बढ़ावा देना चाहिए। कहना न होगा कि परोपकार-परसुख-मूलक वृत्तियों को बढ़ावा देने में ही मनुष्य की मानवता है, स्वार्थ-स्वसुख-मूलक प्रवृत्तियों के अनुसार कार्य करते रहना तो पशुओं में भी समानरूप से पाया जाता है। यदि वही मनुष्य करे तो पशुता से मानवता में क्या अन्तर होगा। इस प्रकार विचार कर चौथे विद्वान् ने यह निर्णय दिया कि 'जिस कार्य के

करने से पर को सुख होता हो वही कार्य करना मनुष्य का कर्तव्य है'। इस प्रकार कर्तव्य-निर्णय का आधार स्वसुख नहीं, किन्तु परसुख होना चाहिए, ऐसा परिवर्तन चौथे विद्वान् ने कर दिया।

(५) पाँचवें विद्वान् ने यह प्रश्न उठाया कि यदि चार कार्य एक साथ उपस्थित हो जायें और चारों से पर का सुख सम्पादन होता हो तब चार कार्यों में से किस कार्य को करना मनुष्य का कर्तव्य होगा ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए यह निर्णय दिया कि 'जिस कार्य को करने में पर को अधिक सुख हो वह कार्य करना मनुष्य का कर्तव्य है'।

(६) छठे विद्वान् ने यह विचार उठाया कि यदि एक साथ चार कार्य इस प्रकार के उपस्थित हो जायें कि 'चारों कार्यों से पर को अधिक सुख होता हो तब चार कार्यों में से कौन सा एक कार्य करना चाहिए ? अन्त में निर्णय दिया कि 'जिस कार्य को करने से अधिक से अधिक दूसरे लोगों को अधिक से अधिक सुख हो वह कार्य करना ही मनुष्य का कर्तव्य है'।

इस प्रकार विविध प्रकार से विचार कर कर्तव्य के बारे में संशोधन कर अभारतीय विद्वानों ने अपना अन्तिम निर्णय दिया, इसमें पुनः संशोधन किसी विद्वान् ने नहीं किया। सर्वसाधारण मनुष्य यह कह भी सकते हैं कि इससे अधिक अच्छा निर्णय और क्या हो सकता है ! परन्तु निम्नलिखित भारतीय वैदिक ऋषियों की विचारधारा का जब अध्ययन करेंगे तब पता लगेगा कि इसमें भी बहुत संशोधन करना चाहिए। यह निर्णय भारतीय वैदिक ऋषियों को नहीं किन्तु अभारतीय अवैदिक विद्वानों के लिए भी समस्याएँ पैदा करने-वाला होने से मान्य न होगा।

अभारतीय 'कर्तव्य-निर्णय' की समीक्षा

देखिये—एक मिठाई की दूकान या व्यक्ति का सुखदाई मकान है, पचास व्यक्ति दूकान पर मुफ्त में खाकर मकान पर विश्राम करने के लिए दूकान तथा मकान के मालिक को कष्ट दे रहें, इस कार्य में केवल दो व्यक्तियों को दुःख और पचास व्यक्तियों अधिक सुख होगा, तो भी 'ऐसा करना मनुष्य का

कर्तव्य है' यह तो अभारतीय विद्वानों को भी मान्य न होगा। इसका एकमात्र कारण यही है कि इस कार्य से पचास व्यक्तियों को अधिक सुख भले ही मिले, परन्तु इसमें उनका नैतिक पतन होकर अहित होगा, समाज में अव्यवस्था, अराजकता फैल जायेगी, जिससे समाज के अङ्गभूत उन व्यक्तियों को भी दुःख भोगना पड़ेगा। अतः 'जिस कार्य के करने से अधिक से अधिक व्यक्तियों को अधिक से अधिक सुख हो वह कार्य करना मनुष्य का कर्तव्य है' यह निर्णय भी सारहीन है।

वैदिक भारतीय ऋषियों की विचारधारा

वैदिक भारतीय ऋषियों के कर्तव्य-निर्णय का मूलाधार सुख नहीं किन्तु हित है। वह हित केवल वैदिक मतावलम्बी भारतीयों का ही नहीं, किन्तु भूतमात्र का हित होना चाहिए। मनुष्यमात्र का हित चाहनेवाले 'मानव-सेवा-समाज' की अपेक्षा भी वैदिक ऋषियों के विचार अधिक उदार हैं, वे मनुष्य के अतिरिक्त पशु, पक्षी आदि प्राणियों का ही नहीं किन्तु भूतमात्र का हित चाहते हैं, इसलिए अपने उदार उद्गार को 'सर्वभूतहिते रताः' इस प्रकार के शब्दों में प्रकट किया है। यह वाक्य ७०० मन्त्रवाले छोटे से गीताग्रन्थ में ही दो बार आया है देखिये गीता ५।२५ तथा १२।४ के श्लोक। इस भाव से युक्त वाक्य तो गीताजी में ही बहुत मिल जायेंगे। सम्पूर्ण वैदिक शास्त्र में तो 'सर्वभूतहिते रताः' इस वाक्य का अक्षरशः लाखों बार प्रयोग किया गया होगा।

एस प्रकार विचार कर देखा जाये तो अभारतीय विद्वानों का विचार जहाँ समाप्त हो जाता है उससे बहुत आगे चलकर अर्थात् सुख की जगह हित को आधार बनाकर भारतीय वैदिक ऋषियों का विचार प्रारंभ होता है और वैदिकत्व, हिन्दुत्व, मनुष्यत्व, प्राणित्व आदि सीमित सीमाओं को पार कर चरम सीमा सर्वभूतत्व पर समाप्त होता है। दोनों में से कौन सा निर्णय श्रेष्ठ है पाठक स्वयं ही निर्णय कर लेंगे।

कर्तव्य का व्यवहार में अवतार

भारतीय वैदिक ऋषियों ने गंभीर विचारयुक्त कर्तव्य-निर्णयविषयक उदार उद्‌गार ही प्रकट नहीं किये, किन्तु व्यवहार में उन्हें किस प्रकार उतारकर दिखाया जा सके इसपर भी अधिकार के अनुसार साधन का विधान किया।

क्रिया द्वारा सर्वभूतों का हित करना

(१) क्रियाप्रधान शक्तिवाले साधक की भी क्रियाशक्ति तथा सेवासाधन अन्न, वस्त्र आदि पदार्थ भी सीमित होते हैं, अतः असीमित-भूतों का हित उनसे कैसे कर सकता है? अल्पज्ञ होने के कारण सर्वभूतों को तथा किसमें उनका हित है, इस बात को कैसे जान सकता है? ऐसी दशा में 'सर्वभूतहिते रताः' के सिद्धान्त को व्यवहार में कैसे उतार कर दिखा सकता है? इन प्रश्नों का उपस्थित होना अति स्वाभाविक है।

इन प्रश्नों का परिहार जिस अलौकिक आधार पर वैदिक ऋषियों ने किया है, उसे समझाने के लिए एक लौकिक उदाहरण पहले लिखा जा रहा है—जैसे दक्षिणभारत में अतिवृष्टि या अनावृष्टि या ओलों की वृष्टि से जन, धन, मकान, की प्रचुर हानि हुई, उत्तरभारतनिवासी कोई व्यक्ति उनकी सेवा करना चाहता है उसके पास सेवा के लिए केवल १० रुपये हैं, अपने तन से केवल एक घंटे सेवाकर सकता है, इतने सीमित रुपयों तथा सीमित क्रियाशक्ति से लाखों व्यक्तियों की अरबों रुपयों से पूरी होनेवाली सेवा कैसे की जा सकती है? इस प्रश्न का लौकिक दृष्टि से यही उत्तर है कि अपने १० रुपयों को अखिलसेवा-विभाग में भेज दे और जहाँ वह रहता है वहाँ के अखिलसेवा-विभाग की शाखा में एक घंटा काम करे तो उसके सीमित धन तथा तन से भी उन सबकी सेवा का साधन सम्पन्न हो जायेगा।

अपनी सीमित क्रिया शक्ति से सीमित अन्न आदि द्रव्य का अलौकिक शास्त्र के विधानानुसार अग्नि में हवनरूप यज्ञ कार्य कर दिया जाये तो अग्नि में डाली हुई वह आहुति सर्वभूतसेवा-विभागाध्यक्ष सूर्य भगवान् को प्राप्त हो जाती है। सूर्य से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न उत्पन्न होता है और अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है। ऐसा शास्त्र में स्पष्ट कहा है—

'अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ।।'

इस प्रकार अलौकिक यज्ञ की प्रक्रियानुसार सीमित क्रिया तथा पदार्थ द्वारा भी असीमित सर्वभूतों का हित किया जा सकता है।

दूसरा प्रकार यह है कि जिस परमात्मा से सब भूतों की उत्पत्ति हुई है तथा जो सर्वभूतों में व्याप्त है, जनताजनार्दन के रूप में उपस्थित उस परमात्मा की स्वकर्म द्वारा सेवा कर देने से सब भूतों की सेवा वैसे ही हो जाती है जैसे वृक्ष की जड़ में जल का सेचन कर देने से प्रत्येक शाखा, प्रशाखा, पत्तों का सेचन स्वयं हो जाता है। यह बात भी शास्त्रों में अतिस्पष्ट शब्दों में कही है—

'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।।' (गी० १८।४६)

'यथा हि स्कन्धशाखानां तरोर्मूलावसेचनम् ।
एवमाराधनं विष्णोः सर्वेषामात्मनश्च हि ।।' (भाग० ८।५।४९)

भावना द्वारा सर्वभूतों का हित करना

भागवत के ऊपर लिखे श्लोकानुसार यदि भावशक्तिप्रधान साधक भगवान् का आराधन करता है तो सभी भूतों का तथा अपना भी आराधन (सेवा) हो जाता है। इस प्रकार भाववान् द्वारा भी सर्वभूतों का हित किया जा सकता है। दूसरी बात यह है कि क्रिया की अपेक्षा भावना का क्षेत्र व्यापक होता है, मनुष्य अपनी भावनाशक्ति से यह भाव तो बना ही सकता है कि सभी सुखी हों, सभी निरामय अर्थात् रोगरहित हों, सभी कल्याण के भागी हों। यही कारण है कि वैदिक ऋषियों की दैनिक प्रार्थना में इस श्लोक का नित्यप्रति भावपूर्वक उच्चारण किया जाता है—

'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ।।'

ज्ञान द्वारा सर्वभूतों का हित करना

ज्ञानशक्तिप्रधान साधक जब शास्त्र के आधार पर यह जान लेते हैं कि सर्वभूतों में आत्मा एकसमान है, तब वे सर्वत्र सुख-दुःख को समान देखने लग जाते हैं, ऐसी दशा में जैसे 'अपने को दुःख प्रिय नहीं वैसे ही दूसरों को भी दुःख प्रिय नहीं' इस बात का ध्यान सदा रहने पर दूसरों को दुःख न देने का स्वभाव बन जाता है। तब उनके द्वारा सर्वभूत हित स्वाभाविक होने लगता है। यह भाव गीता के निम्नलिखित श्लोक से प्रगट होता है–

'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥'

(गी० ६।३२)

सारांश—कर्तव्य-निर्णय के विषय में अभारतीय विद्वानों ने लौकिक सुख को मुख्य आधार बनाकर विचार किया है और भारतीय वैदिक ऋषियों ने अलौकिक हित को मुख्य आधार बनाकर विचार किया है, जिसके अन्तर्गत सुख अनायास वैसे ही प्रविष्ट हो जाता है जैसे हाथी के पांव में अन्य जीवों के पांव प्रविष्ट हो जाते हैं। हित के आधार पर किये कर्तव्य-निर्णय के विचार को 'सर्वभूतहित' तक पहुंचाकर सन्तोष करना यह महान् उदार हृदय का तथा गंभीर विचार का परिचायक है। क्रियाप्रधान साधक यज्ञ तथा स्वधर्मपालन द्वारा और भावशीलप्रधान साधक भगवान् की उपासना द्वारा एवं ज्ञानशक्ति-प्रधान साधक शास्त्रज्ञान से सभी भूतों में आत्मा एक समान है यह जान कर किस प्रकार सर्वभूतों का हित कर सकता है। इस प्रकार योग्यतानुसार साधन का विधान भी करना वैदिक भारतीय ऋषियों की महान् विशेषता का परिचायक है। अतः मनुष्य को अपनी योग्यतानुसार उक्त शास्त्रीय साधन द्वारा 'सर्वभूतहिते रताः' के सिद्धान्त को लक्ष्य में रख कर ही कर्तव्य कर्म करना चाहिए। शब्दान्तर में यों भी कह सकते हैं कि किसी भी भूत का अहित न हो इस बात को ध्यान में रख कर कर्तव्य कर्म करना चाहिए।

●

ॐ

सर्वदर्शनसमन्वय-समर्थन

¬र द्वारा लिखित 'सर्वदर्शनसमन्वय' ग्रन्थ का खण्डन परमादरणीय विरक्तशिरोमणि परमहंस स्वामी वामदेवजी ने 'सर्वदर्शनसमन्वय-एकचिन्तन' नाम का ग्रन्थ लिखकर किया है। जिसे पढ़कर कोई भी विद्वान् मुग्ध हुए विना नहीं रहेगा। मैं भी विद्वत्तापूर्ण खण्डन तथा परिश्रम से प्रभावित हुआ हूँ। श्रुति को नहीं किन्तु युक्ति को प्रधानता देकर मैंने सर्वदर्शनों को समान स्थान 'सर्वदर्शनसमन्वय' ग्रन्थ में दिया था। अतः उसके खण्डन के लिए युक्ति को प्रधानता देकर ही मायावाद को सर्वोपरि सिद्ध करना उचित था, किन्तु ऐसा न करके श्रुति को प्रधानता देकर मायावाद को सर्वोपरि सिद्ध किया। स्वामी-जी के एतादृश प्रयास ने ही मुझे कुछ लिखने का अवकाश दे दिया।

यद्यपि मुझे अपने आस्तिक हृदय से श्रुतियों का प्रामाण्य सर्वोपरि मान्य है तथापि 'सर्वदर्शनसमन्वय' ग्रन्थ मैंने श्रुतियों को नहीं, किन्तु युक्तियों को प्रधानता देकर लिखा है। इसका कारणसहित उल्लेख भी भूमिका पृष्ठ १४ में इस प्रकार किया है—

'इस ग्रन्थ में जैन और बौद्ध दर्शनों के साथ भी समन्वय-प्रदर्शन करना अभीष्ट होने के कारण युक्तियों को प्रधानता देकर ही प्रायः विचार किया गया है, श्रुतियों को नहीं। यह बात ध्यान में रख कर ही ग्रन्थ का अध्ययन करना चाहिए।'

ऋषि-आश्रम (सप्तसरोवर) में सम्मुखवार्ता में भी स्वामी वामदेवजी से यह कहा था 'जैन तथा बौद्ध जब श्रुति को प्रमाण मानते ही नहीं तब श्रुति-प्रमाण को लेकर उनका समन्वय करना संभव ही नहीं, इसलिए श्रुति-प्रमाणों का अवलम्बन न लेना ही ठीक होगा।'

भूमिका के लेख तथा सम्मुखकथन की भी अवहेलना करके स्वामीजी न श्रुतिप्रामाण्य को लेकर मेरे ऊपर बीसों जगह व्यर्थ ही मधुर प्रहार किये हैं। उदाहरण के लिए मैं दो स्थल लिख रहा हूँ—

१–'लेखक (शङ्करानन्द) की मान्यता है कि सर्वदर्शन श्रुति और युक्ति से समर्थित हैं।'

२–'लेखक उपरोक्त प्रघट्टक में अपने को शास्त्रप्रमाण माननेवाला कहते हैं, परन्तु आत्मा के स्वरूप-निर्णय में कहीं भी शास्त्रप्रमाणावलम्बन नहीं लिया, अतः उक्त कथन 'माता मे वन्ध्या' इस वाक्य के समान है'। (कितना मधुर प्रहार है)

स्वामीजी ने कर्तृत्वादि प्रकरणों में तथा अन्यत्र भी सर्वत्र जहाँ युक्ति से मायावाद का संरक्षण नहीं कर सके वहाँ श्रुति प्रमाण से संरक्षण किया है। स्वसिद्धान्त की आधारभूता माया की सिद्धि भी युक्ति से नहीं किन्तु भागवत पुराण का प्रसंग लिखकर की है। अन्त में अपने ग्रन्थ के पृष्ठ १०३ में लिखते हैं—'भाव यह है कि युक्ति से विरुद्ध असंभव अर्थ को भी संभव करानेवाली भगवान् की अघटनघटनापटीयसी माया शक्ति है'। ऐसा कहना तो शब्दान्तर में यह स्पष्ट स्वीकार करना है कि 'मायावाद युक्तिविरुद्ध= युक्ति-असह है'। ऐसी दशा में युक्तियों से मायावाद-मण्डन का प्रयास उपहास को ही अवकाश प्रदान करता है।

स्वामीजी ने उक्त युक्तिविरुद्ध कार्यकारी मायारूपी ब्रह्मास्त्र से प्रतिवादियों के युक्तियुक्त प्रहारों का अनायास ही संहार अनेकों स्थलों में कर दिया है। संक्षेप में उनके ग्रन्थ से ही उन्हें प्रदर्शित किया जा रहा है—लेख-विस्तार के भय से अपेक्षित अंश ही उद्धृत किया जायेगा।

१–आक्षेप—'अज्ञानविशिष्ट जीव को अज्ञान का आश्रय मानने पर अज्ञान का आश्रय कोटि में प्रवेश हो जाने के कारण आत्माश्रय दोष होगा। यदि कहें कि अज्ञान उपहित ब्रह्म को अज्ञान का आश्रय मानने पर आत्माश्रय दोष न होगा, क्योंकि उपाधि विशेषण की भाँति विशेष्य से मिलकर व्यावर्तक नहीं

होती, किन्तु स्वसान्निध्यमात्र से व्यावर्तक होती है। यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्म एक ही है अनेक नहीं। ऐसी दशा में उपाधि हो या विशेषण किसका व्यावर्तन करेंगे ? ब्रह्म निरंश, निष्प्रदेश होने के कारण ब्रह्म के किसी अंश या प्रदेश का व्यावर्तन करना भी उपाधि या विशेपण द्वारा संभव नहीं।'

इस प्रकार अपने ग्रन्थ के ९२-९३ पृष्ठ में आक्षेप को लिखकर ९४ पृष्ठ में समाधान देते हैं—

समाधान—'यद्यपि ब्रह्म निरंश तथा निर्भेद है तथापि अचिन्त्यशक्तिभूत माया (अज्ञान) शुद्ध ब्रह्म से उपहित ब्रह्म का कल्पित भेद उपस्थित कर देती है। अतः माया उपाधि शुद्धब्रह्म का व्यावर्तन करती है। यह कथन भी भली प्रकार संभव है।'

२-आक्षेप—'एक ही चेतन तत्त्व मान्य है वही दोनों माया और अविद्या का आश्रय है। ऐसी दशा में एक को ही सर्वज्ञता और अल्पज्ञता का युगपद-नुभव होना चाहिए ?'। (पृ० १०६)

समाधान—'माया युक्ति से विरुद्ध अर्थ को भी संभव कर दिखा देती है। अतः एक ही चेतन में जीव और ईश्वर भेद कल्पना कर एक ही काल में अल्पज्ञता तथा सर्वज्ञता का अनुभव होता है।' (पृ० १०६)

३-आक्षेप—'अधिष्ठान के सामान्य अंश का ज्ञान, विशेष अंश का अज्ञान आदि अध्यास की सामग्री का होना भी अति आवश्यक होता है जो कि ब्रह्म में आप को मान्य नहीं।' (पृ० ११६)

समाधान—'माया (अज्ञान) ऐसी विचित्र शक्ति है कि वह निरंश में भी सांशता से होनेवाले कार्य का सम्पादन करने में कुशल है। अतः ब्रह्म में सामान्य अंश का ज्ञान तथा विशेष अंश में अज्ञानरूप अध्यास सामग्री संभव है।' (पृ० ११६)

४-आक्षेप—'एकआत्मवाद में बद्ध-मुक्त की व्यवस्था किसी प्रकार नहीं हो सकती ? ' (पृ० १२३)

समाधान—'विचित्र अचिन्त्य शक्तिरूप अज्ञान से ही व्यवहार में सर्वव्यवस्था अनुभव में आ रही है। अतः यह आक्षेप करना कि बद्ध-मुक्त व्यवस्था न बनेगी भारी भूल है।' (पृ० १२३)

उक्त युक्तियुक्त मुख्य चार आक्षेपरूप प्रहारों के संहार से युक्तिविरुद्धकार्यकारी माया पर अतिश्रद्धा करके विचारकुशल स्वामीजी ने मायावाद का मण्डन किया और उससे युक्तिप्रधान 'सर्वदर्शनसमन्वय' का खण्डन किया। यह किस प्रकार उचित है इसे पाठक स्वयं विचार लें। मैं तो समझता हूँ कि प्रतिवादियों तथा तटस्थ निष्पक्ष विचारकों की तो बात ही क्या अतिश्रद्धालु मायावादियों को छोड़कर सामान्य विचारक को भी इससे सन्तोषकारक समाधान न होगा। किसी सिद्धांत पर अति श्रद्धा उसपर निष्ठा बनाने में साधक हो सकती है, निष्पक्ष विचार में तो बाधक ही होती है।

युक्तिविरुद्धकार्यकारी माया के बल से मायावादसम्मत सिद्धांत पर किये गये सभी प्रकरणों के सभी आक्षेपों का समाधान 'माया में क्या संभव नहीं' यह एक वाक्य लिखकर ही किया जा सकता था स्वामीजी ने व्यर्थ ही इतना प्रयास किया। इतना ही क्यों इस युक्तिविरुद्धकार्यकारी माया के बल पर तथा 'आत्मकृतेः परिणामात्' (१।४।२६) सूत्र प्रमाण में परिणाम शब्द का स्पष्ट प्रयोग होने के कारण ब्रह्मपरिणामवाद मानने में भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

मायावाद-खण्डन के उद्देश्य से मैंने यह लेख लिखने का प्रयास नहीं किया, किन्तु 'सर्वदर्शनसमन्वय' को पुनः स्वस्थानापन्न करके उसका समर्थन करने के लिए लिखा है। स्वामीजी ने मायावाद को सर्वोपरि सिद्ध करने का प्रयास करके उसका खण्डन कर दिया था। अतः उसे स्वस्थानापन्न करने के लिए मायावाद की सर्वोपरिता को असिद्ध करना आवश्यक हो जाने के कारण ही मैंने उसपर कुछ लिखा है।

युक्ति को प्रधानता देकर लिखे गये 'सर्वदर्शनसमन्वय' का खण्डन करने के लिए यही उचित था कि युक्ति को प्रधानता देकर मायावाद को सर्वोपरि

सिद्ध करते और उससे सर्वदर्शनसमन्वय का खण्डन करते। ऐसा न करके स्वसिद्धान्त का समर्थन करने के लिए श्रुति का तथा युक्तिविरुद्धकार्यकारी माया का सहारा लेना और उससे मायावाद को सर्वोपरि सिद्ध करके 'सर्वदर्शन-समन्वय' का खण्डन करना उचित नहीं।

यदि कहा जाये कि 'वेदान्त (मायावाद) तो मुख्यरूप से श्रौत है, श्रुति के अनुकूल युक्तियाँ देता है।' तो मेरा निवेदन यह है कि यदि मैंने श्रुति प्रमाण को प्रधानता देकर सर्वदर्शन-समन्वय किया होता तब तो स्वामीजी का प्रयास सर्वथा सार्थक होता। स्वामी जी से बड़ी भारी भूल यही हुई कि युक्ति-प्रधान समन्वय का खण्डन करने के लिए श्रुति का तथा युक्तिविरुद्धकार्यकारी माया का आश्रय लिया। एतादृश माया का सहारा लेना तो विचार का द्वार बन्द करना है।

इस लेख में मैंने मायावाद की सर्वोपरिता के खण्डनपूर्वक सर्वदर्शनसमन्वय-समर्थन के मूलाधार का दिग्दर्शनमात्र कराया है। भविष्य में कभी ग्रन्थ लेखनयोग्य प्रसन्न मन, प्रकाशनयोग्य धन, जन आदि साधन भगवान् ने यदि प्रदान किये तो स्वामीजी के 'एक चिन्तन' ग्रन्थ पर पुनः चिन्तन करने के लिए उनके पूरे ग्रन्थ पर विचार लिखने का प्रयास करूँगा। इससे हमें भी पुनः चिन्तन का जो लाभ होगा उसके लिए हम स्वामीजी के आभारी हैं।

सारांश—लेख का सारांश यह है कि 'श्रुति को ही सर्वोपरि प्रमाण माननेवाले तथा आत्मा, परमात्मा आदि का निर्णय युक्ति से नहीं अपितु अचिन्त्य होने के कारण श्रुति से ही वे जाने जाते हैं', ऐसा अपने आस्तिक हृदय से माननेवाले भी जब श्रुति को न माननेवाले जैन तथा बौद्ध के साथ विचार करते हैं, या युक्ति को प्रधानता देकर आत्म-परमात्मतत्त्वों पर कहाँ तक विचार तथा समन्वय किया जा सकता है, इस दृष्टि से विचार करते हैं। वहाँ उनके समन्वय-विचारों का खण्डन करने के लिए युक्ति को ही प्रधानता देकर खण्डन करना उचित होता है। श्रुति या श्रुतिबल से बलवती युक्ति, अर्थापत्ति तथा परिशेषन्याय का सहारा लेकर युक्तिप्रधान समन्वय-विचारों का खण्डन

उचित नहीं होता। अन्यथा अन्य दर्शन भी स्व-स्वमान्य शास्त्रप्रमाण या उसके बल से बलवती युक्ति, अर्थापत्ति तथा परिशेषन्याय का सहारा लेकर मायावाद का भी खण्डन कर देंगे।

यदि कहा जाये कि समन्वय को प्रमाणित करने के लिए जब श्रुति तथा भागवतादि शास्त्र के प्रमाणों का उल्लेख किया गया है तो उसका खण्डन करने के लिए श्रुत्यादि का सहारा लेना उचित ही है अनुचित नहीं। यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि सर्वदर्शनों का समन्वय तो युक्तिप्रमाण को प्रधानता देकर ही किया है। उसमें श्रुति, भागवत आदि के प्रमाणों का उल्लेख सहायतामात्र के लिए ही किया गया है न कि युक्तिसिद्ध समन्वय को श्रुतिसिद्ध बताने के लिए। यदि श्रुति, भागवतादि के दिये प्रमाण ठीक सिद्ध नहीं होते तो उससे इतना ही सिद्ध होगा कि सर्वदर्शनसमन्वय के समर्थन में वे सहायक नहीं, इतनेमात्र से युक्तिसिद्ध समन्वय का खण्डन नहीं हो जायेगा। उसका खण्डन तो तभी होगा जब स्वामीजी युक्ति ही को प्रधानता देकर मायावाद को सर्वोपरि सिद्ध कर देंगे।